वर्द्धमान

ज्ञानपीठ-लोकोदय ग्रथमाला हिंदी-ग्रन्थाङ्क—१३

वर्द्धमान

रचयिता

महाकवि अनूप

भा र ती य ज्ञा न पी ठ का शी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला सम्पादक
लक्ष्मीचन्द जैन एम० ए०, डालमियानगर

प्रकाशक—
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्डरोड, बनारस ४

वीर-शासन जयन्ति
श्रावण कृष्ण १ वी० नि० स० २४७७
जुलाई १९५१

प्रथम संस्करण ३०००
मूल्य छह रु०

मुद्रक—
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

विषयानुक्रमणिका

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

तीसरा सर्ग

चौथा सर्ग

पाँचवाँ सर्ग

छठा सर्ग

सातवाँ सर्ग

आठवाँ सर्ग

सोलहवाँ सर्ग

सत्रहवाँ सर्ग

शुद्धि-पत्र

(नोट इसके अनुसार ग्रथमे सशोधन करके इसको अलग कर दीजिए)

पृष्ठ सख्या	श्लोक-सख्या	पक्ति-सख्या	शुद्ध
१३२	६१	१	स्यदन ।
१६५	१०५	१	अविच्छिन्न ।
१७४	७	३	मेद ।
१९३	८३	१	त्रिसरेणु
२१७	६५	२	टिट्टिभ ।
२१८	७१	१	मदीय ।
२३३	१८	३	सभृत
२३९	४२	४	न मुक्ति है ।
२८६	४	४	विस्वेरता ।
२९८	५३	१२	धर्म ।
२३४	७६	४	ज्ञान
४११	३३	३	गेह ।
४१७	५९	२	कुमार ।
४३०	१०९	३	सरोजिनी-पुष्प ।
५०२	३८	२	प्रहारारव ।
५८१	२२५	३	('है' काट दीजिए)

आमुख

'सिद्धार्थ' महाकाव्यके यशस्वी कलाकार श्री प० अनूपशर्मा एम० ए०, एल० टी०, ने आज अपनी प्रतिभाकी चमत्कृत छैनीसे उन अद्वितीय जन-गण-मन अधिनायक भगवान् महावीरकी शान्त और सतेज प्रतिमा गढी है जिनकी मूर्तिके अभावमें माँ भारतीका मन्दिर शताब्दियोसे सूना-सूना लग रहा था। यह भारतीय ज्ञानपीठका सौभाग्य है कि उसे इस कलाकृतिको प्रकाशमे लाने और श्रुत-शारदाके मन्दिरमें प्रतिस्थापन करनेका गौरव मिल रहा है।

भगवान् महावीर जैनधर्मके उन्नायक अन्तिम (२४वे) तीर्थंकर थे। उनके ५ नाम थे, जो गुणाश्रित थे—वीर, अतिवीर, महावीर, सन्मति और वर्द्धमान। प्रस्तुत काव्यके शीर्षकके लिए 'वर्द्धमान' नाम ही उपयुक्त समझा गया, यद्यपि प्रारम्भमें कविने मूल पाडुलिपिका 'शीर्षक सिद्ध–शिला' दिया था और हमारे कई प्रकाशनोमे इस ग्रन्थकी योजना इसी नामसे घोषित की गई थी। 'सिद्ध–शिला' भगवान् महावीरकी जीवन-साधनाका चरम लक्ष्य—मोक्ष—का प्रतीक है, और 'सिद्धार्थ' के साथ लेखककी कृतियोका स्मृति-सरल युग्म बन जाता, पर कठिनाई यह थी कि 'सिद्ध-शिला' का शीर्षक साधारण पाठक को काव्य–विषयका सुबोध सकेत न दे पाता। दूसरी ओर, भगवान् महावीर का 'वर्द्धमान' नाम इतना प्रचलित है कि भगवानकी विहार और उपदेश–भूमिका एक खड बगालमें इस नामसे ही (बर्दवान=वर्द्धमान) प्रसिद्ध है।

'वर्द्धमान' के सम्बन्धमें मुख्य विचारणीय बात यह है कि यह ग्रन्थ न तो इतिहास है न जीवनी। यदि आप भगवान् महावीरकी जीवन-सम्बन्धी समस्त घटनाओका और तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक परिस्थितियो का क्रमवार इतिहास इस ग्रन्थमें खोजना चाहेगे तो निराश होना पडेगा। यह तो एक महाकाव्य है, जिसमें कविने भगवान्के जीवन और व्यक्तित्वको आधार-

फलक बनाकर कल्पनाकी तूलिका चलाई है। यहाँ इतिहास तो केवल डोर-की तरह है जो कल्पनाकी पतगको भावनाओंके आकाशमें खुली छूट देनेके लिए प्रयुक्त है। उडानका कौशल देखनेके लिए दर्शककी दृष्टि पतग पर रहती है, डोर पर नहीं। हाँ, पतगके खिलाडीको उतनी डोर अवश्य सँभालनी पडती है जितनी उडानके लिए आवश्यक है।

महाकाव्यके कविके लिए जो एक बन्धन आवश्यक है, वह है साहित्यिक-परम्परा और पद्धतिका। दण्डीने अपने ग्रन्थ काव्यादर्शमें महाकाव्यके निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं —

> "महाकाव्यकी कथावस्तु किसी प्राचीन इतिहास अथवा ऐतिहासिक वृत्तके आधारपर हो। नायक धीरोदात्त प्रकृतिका हो। महाकाव्य-में नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, जलक्रीडा, विवाह, यात्रा, युद्ध आदिका वर्णन होना चाहिए। अति सक्षिप्त नहीं होना चाहिए। इसमें वीररस अथवा शृगाररस प्रधान हो और दूसरे रस भी गौणरूपमें हों। सम्पूर्ण काव्य सर्गोमें विभक्त होना चाहिए। प्रतिसर्गमें एक ही वृत्तके छन्द हो, किन्तु सर्गके अन्तमें अन्य वृत्तके छन्द अवश्य हों" इत्यादि। (काव्यादर्श—१।१४।४९)

महाकाव्यकी उपर्युक्त परम्पराका आधार सस्कृत साहित्य है। सस्कृतके लगभग सभी महाकाव्य इसी परिपाटीके आधार पर लिखे गये हैं अत उनके लिए विषय और आख्यान भी ऐसे ही चुने गये हैं जिनमें महाकाव्यकी कथा वस्तु के प्रसारकी और उपयुक्त सामग्री प्रदान करनेकी क्षमता हो। भगवान राम, आनन्दकन्द कृष्ण और महात्मा बुद्धके जीवन-आख्यानोको कवियोने अनुश्रुति और प्रतिभाके बल पर इस प्रकार विकसित कर लिया कि ईस्वी पूर्व चौथी और पाँचवी शताब्दीमे 'रामायण' तथा 'महाभारत' और तीसरी शताब्दी, (ईस्वी उत्तर) में अश्वघोष द्वारा 'बुद्ध-चरित' नामक महाकाव्योकी रचना हुई। क्या कारण है कि भगवान् महावीरके जीवनवृत्तके आधारपर शताब्दियो बाद तक भी कोई सागोपाग महाकाव्य न लिखा जा सका ? हिन्दी साहित्यमें भी

जहाँ सूर और तुलसीके समयसे लेकर आधुनिक युग तक 'रामचरितमानस' 'सूर-सागर' 'बुद्ध-चरित' 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत', 'यशोधरा' और 'सिद्धार्थ' लिखे गये वहाँ 'वर्द्धमान' के लिए हिन्दी साहित्यको इतनी लम्बी प्रतीक्षा करनी पडी। इसका मुख्य कारण यह है कि भगवान् महावीरकी जीवनी जिस रूपमे जैनागमोमे मिलती है उसमें ऐतिहासिक कथा भाग और मानवीय रागात्मक वृत्तियोका घात-प्रतिघात गौण है और भगवान्की साधना——मोक्ष-प्राप्तिकी प्रयत्न-कथा ही मुख्य है। महाकाव्यके लिए जिस शृगार अथवा वीर रसके परिपाक की आवश्यकता है उनका ऐतिहासिक कथा-सूत्र या तो मूलरूपसे है ही नही या किन्ही अगोमे यदि घटित भी हुआ हो तो उपलब्ध नही।

उदाहरणके लिए, दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान् महावीरने विवाह नही किया और कुमारावस्थामें ही वैराग्य ले लिया। ब्रह्मचर्यके इस अखड तेज-में उत्कट वल और विजय तो है, पर शृगारके रस-विलासकी भूमिका नही। महाकाव्यमे घटनाओ और भावनाओंके सघातके लिए जिस प्रतिद्वदी और प्रति-नायककी आवश्यकता है वह भी नही। फिर जल-क्रीडा, उद्यान-विहार, विवाह, यात्रा, युद्ध और विजय-प्राप्तिके मानवीय चित्रणो द्वारा रसोकी आयोजना-उत्पत्ति हो तो कैसे? जैनाचार्योंने प्राकृत और सस्कृतमे जब कुमारावस्थामे वैराग्य प्राप्त करने वाले तीर्थंकरो और महापुरुषोकी जीवनी लिखी तो शृगार-सर्जना के लिए उन्हे मुक्तिको स्त्री और नायिका तथा काम या मारको प्रतिद्वदी वना कर शृगार और वीर रसके उपादान जुटाने पडे। इससे रीतिकी तो रक्षा हुई, शब्द और अर्थका चमत्कार भी उत्पन्न हुआ, पर पाठककी अनुभूतिको उकसा कर हृदयको भिगोने और गलाने वाला रस कदाचित् ही उत्पन्न हुआ।

इस कठिन पृष्ठभूमि पर महाकवि अनूपने 'वर्द्धमान' काव्य लिखा है। काव्यमे १७ सर्ग है और कुल मिलाकर १९९७ चतुष्पद (छद) है। इस प्रकार ग्रन्थको महाकाव्यका पूरा विस्तार प्राप्त है। इसे हरिऔधजीके 'प्रियप्रवास' और कविकी अपनी कृति 'सिद्धार्थ' के अनुरूप सस्कृत-वहुल भाषा और सस्कृत वृत्तोमे लिखा गया है। प्राय समूचा काव्य वशस्थ वृत्तमे है। केवल घटनामे

तोड देनेके लिए कहीं-कहीं मालिनी और द्रुतविलम्बित छन्दका उपयोग किया गया है। ग्रन्थका उपसहार शिखरिणीमे किया गया है। विषय-क्रमसे सर्गोंका विभाजन मोटे रूपसे इस प्रकार है —

वर्णन और प्रकृति-चित्र—प्राय सब सर्गोमे, किन्तु विशेष कर

पहला, तीसरा, सातवाँ, आठवाँ, दसवाँ, और ग्यारहवाँ सर्ग।

कथा-भाग–

चौथा, आठवाँ, नौवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ और सत्रहवाँ सर्ग।

प्रेम शृगार और मनोरजनात्मक–

दूसरा, पाँचवाँ और छठा सर्ग।

वैराग्य और उपदेशात्मक–

दसवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ और सत्रहवाँ सर्ग।

महाकाव्योंके अनुरूप 'वर्द्धमान' में वर्णन-सौंदर्य पद-लालित्य, अर्थ-गाम्भीर्य, रस-निर्झर और काव्य-कौशल सभी कुछ है। पद-पद पर रूपको, उपमाओ और अन्य अलकारोकी छटा दर्शनीय है। इतना श्रम-साध्य कौशल होने पर भी सरसता और प्रवाहकी रक्षाका प्रयत्न है। सारा काव्य भगवान् महावीरके पिता राजा सिद्धार्थकी राज-सभाकी तरह साक्षात् सरस्वतीका प्रतीक है —

"सुवर्ण-वर्णा, ललिता, मनोहरा
सभा लसी यो पद-न्यास-शालिनी।
विरचि-सिद्धार्थ-युता लखी गई
शरीरिणी ज्यों अपरा सरस्वती॥"

(पृष्ठ ४३, छद २३)

भगवान्की माता रानी त्रिशलाके वर्णनमें कविने उपमाओंकी मनोहारिणी लडी पिरोई है। त्रिशला कल्प-वल्लरी है —

"सुपुष्पिता दन्त-प्रभा-प्रभावसे
नृपालिका पल्लविता सुपाणिसे।

सुकेशिनी मेचक[1]-भृंग-यूथसे
[2]अनल्पथी शोभित कल्पवल्लरी ॥

(५०।५९)

इन्ही त्रिशलाके वर्णनमे तरगिनी (नदी) का रूपक देखिए —

"सरोज-सा वक्त्र, सु-नेत्र मीन-से
सिवार-से केश, सुकठ कबु-सा।
उरोज ज्यो कोक, सुनाभि भौंर-सी
तरगिता थी त्रिशला-तरगिणी ॥

(५५।८१)

कविकी कल्पनाका कौशल देखिए कि त्रिशलाकी उँगलीको साक्षात् महाभारतकी कथा बना दिया —

"नलोपमा,[3] अक्षवती,[4] स-ऊर्म्मिका[5]
मनोहरा, सुन्दर-पर्व-[6]सकुला।
नरेन्द्र-जाया-कर-अगुली लसी
कथा महाभारतके समान ही ॥

(६०।१०२)

त्रिशलाकी वाणीकी मिठास सुन कर कोयल और वीणा, दोनोका मान खडित हो गया। एक वन-वनमें रोती फिर रही है और दूसरी धराशायी हो गई —

---

[1]नीले, [2]अत्यन्त,

महाभारतके पक्षमें	—	त्रिशलाके पक्षमें
[3]राजा नलको चर्चा	--	वृत्त-नालके समान
[4]पासे वाली	--	चिह्न वाली
[5]तरग (परिच्छेद)	—	रेखा-तरग
[6]खड	—	पोर।

"परन्तु जो सर्वद सर्वदा उन्हें
विचारते थे, वह यों निराश थे।
न पीठ पाई अरि-वृन्दने कभी
न वक्ष देखा पर-नारिने तथा॥
स्वपैद सर्वद न भूमिपाल थे
न जानते थे इतना कदापि वे।
नकार होती किस भाँतिकी अहो॥
अनाथको आश्रितको अनागको।

(४८।३६–३७)

सुसह्य हेमन्त रवीव पार्थके
विनष्ट हेमन्त नलेव शत्रु थे॥
(४५।४३)

"तडाग थे, स्वच्छ तडाग हो यथा
सरोज थे, फुल्ल सरोज हो यथा।
शशांक था, मजु शशांक हो यथा
प्रसन्नता पूर्ण शरत्स्वभाव था॥
(१४०।४)

"अधौत वस्त्रा, अमिता अशसिता
अशौच-देहा, अभगा, अमानिता।
अदर्शनीया, अनलकृता अ-भा
अभागिनी थी अवला अमानुषी॥"
(चन्दनाका वर्णन—४८६।१८९)

नि सन्देह इस प्रकारके अलकार सस्कृत साहित्यमे अन्यत्र भी पुन-पुन आये है और खोजनेसे अलकार साम्य दिखाया जा सकता है पर इस प्रकार देखें तो कालिदास, भवभूति, भारवि और माघ, तथा गुणाढय, विमल, हरिषेण, जिनसेन और धनजय आदिके बाद तो कोई उपमा और अलकार अछूते नही बचते ? और बाणके विषयमें तो यहाँ तक कह दिया गया है कि—"बाणोच्छिष्ट जगत्सर्वम्"।

परम्परागत अलकार कौशलके अतिरिक्त कविवर अनूपने 'वर्द्धमान' काव्य मे अपनी भावमयी कल्पनासे सुषमाके अनेक नये सुमन उपजाये है। कही-कही शब्दोकी कल्पनामें अर्थ और मृदुताका इतना विस्तार भरा है कि परिभाषाएँ और कल्पनाएँ काव्यमय हो गई है।

त्रिशला स्वप्न देख रही है। स्वप्नकी परिभाषा और व्याख्या [illegible] किस तरह सजीव और सजग हो गया —

"निशीयके बालक, स्वप्न नामके,
प्रवुद्ध होके त्रिशला-हृदब्जमें।
मिलिन्दसे गुंजन-शील हो गए"
(१०५।१७)

"उगा नहीं चन्द्र, समूढ प्रेम है
न चाँदनी, केवल प्रेम-भावना।
न ऋक्ष[1] है, उज्ज्वल प्रेम-पात्र है
अत हुआ स्नेह-प्रचार विश्वमें॥"
(१४।६३१)

और यह आँसू है —

"वियोगकी है यह मौन भारती
दृगम्बु-धारा कहते जिसे सभी।
असीम स्नेहाम्बुधिकी प्रकाशिनी
समा सकी जो न सशब्द वक्षमें"
(४२१।७२)

'वर्द्धमान' में शृंगार और प्रेमका वर्णन राज-दम्पत्ति सिद्धार्थ और त्रिशला के प्रौढ गार्हस्थिक स्नेह पर अवलम्बित है। शृंगार-रसकी सहज उत्पत्ति और विकासके जो उपादान है और नायक-नायिकाके युवकोचित विभ्रम-विलास-के चित्रणके लिए कविको जो चित्र-पट प्राप्त होना चाहिए वह यहाँ नही है। इस लिए इस शृंगारका सन्तुलन कठिन हो गया है। पर कविने इसे निभानेका प्रयत्न किया है। पाँचवे सर्गमें प्रेमकी गरिमा और महिमा सिद्धार्थ और त्रिशलाके स्नेह-सवादके रूपमें दिखाई गई है। दार्शनिकताके बीचमें जहाँ कही मानवीय प्राणोकी भावधारा उमडती है वहाँ स्थल अधिक सरस और सजीव हो जाते है। —सिद्धार्थ कहते है —

---

[1] तारे

"वहित्र[1]-सा जीवन मध्य-रात्रिके
पड़ा रहा चंद्र-विहीन सिंधुमें।
मिला न दिग्सूचक-यंत्र सा जभी
प्रिये! तुम्हारा कर, मैं दुखी रहा।"
(१६०–८४)

और त्रिशलाकी भाव-प्रतिध्वनि सुनाई पडती है —

"प्रकाशसे शून्य अपार व्योममें
उड़ी, बनी आश्रित-एक-पक्ष[2] मैं।
मिला नहीं, नाथ! द्वितीय पक्ष-सा
जभी तुम्हारा कर मैं दुखी रही"
(१६०।८५)

इस संवादका धरातल इतना ऊँचा उठाया गया है कि एक स्थान पर यह अत्यन्त आध्यात्मिक हो गया है —

"प्रभो! मुझे हो किस भांति चाहते?"
"यथैव निःश्रेयस चाहते सुखी।"
"प्रिये! मुझे हो किस भांति चाहती?"
"यथैव साध्वी पद पार्श्वनाथके॥"
(१५८।७६)

इस स्थान पर पहुँच कर सहसा ध्यान आता है कि यहाँ पाँचवें सर्गमें जो राज-दम्पति इतने ऊँचे उठकर प्रेमवार्तालाप कर रहे हैं दूसरे सर्गमें भी तो वही दम्पति हैं जो भगवान्के जनक और जननी बनने वाले हैं। जाना है जैसे कवि-ने दूसरे सर्ग मे इन्हे केवल राज-दम्पतिके रूपमें ही मान कर [illegible] नख-शिखका वर्णन किया है। यह यद्यपि मात्रामें कम है [illegible]

---

[1]नाव, [2]पक्ष।

के अनुकूल है किन्तु यहाँ-वहाँ इस लिए नहीं खपता कि त्रिशला गन्धर्वी नायिका न होकर भगवान्की माता है। तत्त्वतया कविके सामने शृंगार चित्रण-के लिए बहुत ही सीमित फलक था। इतनेमें ही उसे सब कुछ कहना था और परम्पराको निभाना था। कविने फलककी सकीर्णताके दोषको सर्गोंकी लम्बाई-से ढँकना चाहा है और यहीं भक्त पाठकके मनमें विभ्रम और कहीं-कहीं जुगुप्सा उत्पन्न हो जाती है। ऐसे पाठकका विचार है कि उरोज, नितम्ब और जघन-स्थलीका इतने अधिक बार उल्लेख न होता तो भी काम चल सकता था। इसके उत्तरमें यही कहा जायेगा कि काव्यमें जो वर्णन परम्परासे मान्य है और शृंगारके प्रसंगमें अशोभन नहीं उसे छोड़नेके लिए कवि बाध्य नहीं। दूसरी बात यह भी है कि त्रिशलाका नखशिख वर्णन राजाकी प्रेयसीके रूपमें किया जा रहा है। सिद्धार्थका मन-भृङ्ग सौन्दर्य-वल्लरीके जिन सरस दलों और विकच-कुसुमोंके प्रति लुब्ध है, उनका शालीन वर्णन उन्हींके दृष्टिकोणसे किया गया है। तीसरे यह कि दूसरे सर्गका पार्थिव शृंगार यदि पाँचवें सर्गमें अपार्थिव और आध्यात्मिक हो गया है तो यह कविकी सफल कल्पनाका प्रतीक है।

जैसा कि होना चाहिए, वर्द्धमान काव्य प्रधानतः भक्ति और वैराग्यका काव्य है। महावीर कुमारावस्थासे ही दयार्द्रमन और चिन्तनशील हैं। आठ वर्षकी अवस्थामें ही वह अपने सखाओंको सम्बोधित करते हैं —

"सखे ! विलोको वह दूर सामने
प्रचण्ड दावा जलता अरण्यमें।
चलो, वहाँके खग जीव जन्तुको
सहायता दें, यदि हो सके, अभी ॥"
मनुष्य, पक्षी, कृमि, जीव, जन्तुकी
सदैव रक्षा करना स्वधर्म है।
अब चलो काननमें विलोक लें
कि कौनसी व्याधि प्रवर्द्धमान है ॥"

इसी आयुमें कुमार वर्द्धमान ऋजुवालिका नदीके तट पर पहुँचते —

"नितान्त एकान्त-निवास-सत्पृहो
कुमारको थी सरि मोद-दायिनी ।
कभी-कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवनका रहस्य थे ॥"

सोलह वर्षकी अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उनकी वैराग्य-भावना औ-
भी प्रबल हो गई और प्रकृतिके साहचर्यसे प्रभावित होकर वह गाने
लगे —

"मनुष्यका जीवन है वसन्त-सा
हिमर्तु प्रारम्भ, निदाघ अन्तमें ।
जहाँ सदा भाव प्रसून फूलते
विचारके भी फलते प्रतान हैं ॥"
"लिया जभी जन्म, तुरन्त रो उठे
विलोक पृथ्वी हँसने लगे तथा ।
मुहूर्त जागे, क्षण-एक सो, उठे
सुदीर्घ सोये, तब जागना रहा ?

गृहस्थके साधु-समाजके सभी
बता चले धर्म तथैव कर्म भी॥"
(५६२–१४९)

वैशाली के प्रमुख गण-तन्त्र की परम्पराओंमें पले तथा सामान्य मानव-समाजके हित और उद्धारकी भावनाओंसे पूरित-हृदय भगवान्‌के उपदेश सर्वसाधारणके बोधगम्य होने ही चाहिए थे। उनकी शैली, वाणी-माधुर्य और भाषाकी यही विशेषता थी।

श्री अनूप शर्माने इस ग्रथकी रचनामें भगवान्‌के जिस ऐतिहासिक जीवन वृत्तको आधार बनाया है, उसकी रूप-रेखा उन्होंने अपने वक्तव्यमें दी है। महावीरकी जीवनी जैनधर्मकी दो सम्प्रदायो—दिगम्बर और श्वेताम्बर—में भिन्न-भिन्न रूपसे मिलती है। जीवन–वृत्तकी जिन ऐतिहासिक मान्यताओंमे दोनो सम्प्रदायोमें अन्तर है उनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं।

१ माता—दिगम्बर मान्यताके अनुसार भगवान् महावीरकी माता त्रिशला वैशालीके हैहय वशीय, जैनधर्मानुयायी क्षत्रिय राजा चेटककी पुत्री थी। श्वेताम्बर मान्यतानुसार त्रिशला चेटककी बहिन थी।

२ गर्भावतरण—दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान् महावीर आषाढ शुक्ला षष्ठीके दिन रानी त्रिशलाके गर्भमें अवतीर्ण हुए और उन्हीकी कुक्षिसे जन्म हुआ। श्वेताम्बर आगमोकी मान्यता है कि भगवान् महावीर प्राणत स्वर्ग-मे च्युत हो कर ब्राह्मणकुडपुरमे ऋषभदत्त नामक जैनधर्मानुयायी ब्राह्मण-नायक-की पत्नी देवनन्दाके गर्भमे आषाढ शुक्ला षष्ठीको आए और ८३ दिन बाद सौधर्मेन्द्रकी इच्छानुसार हिरणैगमेष्ठा देव द्वारा ब्राह्मण भार्या देवनन्दाके गर्भसे निकाल कर क्षत्रिय-भार्या त्रिशलाकी कोखमे लाये गये। बदलेमे त्रिशला की गर्भ-गत पुत्रीको देवनन्दाके गर्भमें लाया गया।

३ कुटुम्ब—दिगम्बर मान्यता है कि भगवान् महावीर राजा सिद्धार्थके एक-मात्र पुत्र थे। श्वेताम्बर मान्यता है कि राजा सिद्धार्थके दो पुत्र थे। भगवान् महा-वीरके बडे भाईका नाम नन्दिवर्द्धन था और उनकी भाभीका नाम प्रजावती था।

४ विवाह—दिगम्वर मान्यतानुसार भगवान्‌का विवाह नही हुआ। श्वेताम्बर मान्यता है कि इनका विवाह समरवीर नामक सामन्तकी कन्या यशोदा-से हुआ। इतना ही नही, इनके एक पुत्री हुई जिसका नाम प्रियदर्शना था।

५ दीक्षा—दिगम्बर मतानुसार भगवान्‌ने ३० वर्षकी अवस्थामे दीक्षा ली जवकि उनके मातापिता जीवित थे। श्वेताम्बर मान्यता है कि जव २८ वर्षकी अवस्थामे भगवान् महावीरके माता-पिताका देहान्त हो गया तो उन्होने दीक्षा लेनी चाही। बडे भाई नन्दिवर्द्धनके समझानेसे वह दो वर्षके लिए रुक गये और इन दो वर्षोमें उन्होने गृहस्थ होते हुए भी त्यागी जीवन विताया।

६ निर्ग्रन्थ—दिगम्बर मान्यता है कि भगवान दीक्षाके समय नग्न दिगम्बर हो गए। श्वेताम्बर मत है कि भगवान सवस्त्र थे और उनके कन्धे पर देव-दूष्य था।

७ उपदेश—दिगम्वर मान्यतामें भगवानने केवलज्ञान प्राप्त होनेसे पहले उपदेश नही दिया और ६६दिन वाद प्रथम समवसरण उस समय हुआ जव उन्हे इन्द्रभूति गौतम गणधरके रूपमे प्राप्त हुआ।

श्वेताम्बर मतानुसार भगवानका उपदेश केवल ज्ञान प्राप्त करनेसे पहले भी हुआ किन्तु प्रथम समवसरणमें केवल देव ही उपस्थित थे मनुष्य नहीं।

८ रात्रिगमन—जवकि दिगम्वर मतानुसार भगवानका रात्रिगमन नही है, श्वेताम्वर मान्यता इसके विपरीत है।

उपर्युक्त कथानक-भिन्नतामे विशेष महत्वकी घटना भगवानका विवाह और कौटुम्विक स्थिति है। 'वर्द्धमान' के लेखकने श्वेताम्वर और दिगम्वर मान्यताओमें समन्वय उपस्थित करनेका प्रयत्न किया है। उनके वडे भाईने जव विवाहका सदेश भिजवाया —

"विवाह-प्रस्ताव प्रकाशते हुए,
संदेश-संवाहक-वृन्दने कहा,

"प्रभो! तुम्हारे प्रिय ज्येष्ठ भ्रातृको
अभीष्ट है कौतुक आपका लग्न"
(३८६-६)

भगवानने उत्तर दिया

"कहा किसी ज्योतिष-विज्ञने कभी
विवाह होगा मम तीस वर्षमें
तथा मिलेगी मुझको वधू कि जो
सुभाग्यसे ही मिलती मनुष्यको
(३४९-१८)

× ×

अखंड सौभाग्यवती कलत्रका
अवाप्त होना कुछ खेल है नहीं,
वही बली पा सकता उसे कि जो
खपे, मरे, और जिये अनेकधा।
सुना किसीसे वह दिव्य नायिका,
विराजती तेरह खंड धामपे।
अजस्र आरोहण रात्रि-वारका
सुमार्ग भी दीर्घ [1]त्रयोदशाब्द है॥
न शीघ्रगामित्व, न मंदगामिता,
न यान साहाय्य, न दंड धारणा।
न पास पाथेय, न दास-मंडली
तथापि जाना अनिवार्य कार्य है॥"
(४१६—५२से ५४ तक)

× ×

---

[1]विवाह, तेरह गुणस्थान।

उनके बाद उनका अन्तिम निश्चय हुआ—

"अत चलूँगा कल मं अवश्य ही
मुझे महा-सिद्धि-विवाह-ध्येय है
प्रवृत्त होगी कल मार्ग मासकी
पवित्र शुक्ला दशमी मनोरमा"

(४१७–५८)

सोलहवे सर्गमे इस घटनाको |कवींद्र-कल्पनाने आगे इस प्रकार बढाया —

"हुआ उसी काल, अहो ! अनन्तमें
निदान ऐसा कि जिसे कवीन्द्र ही
निशान्तमें है सुनते कभी, यदा
समीर हो स्तम्भित, शान्त व्योम हो।

(५०१–३२)

× ×

कुबेर सचालित चार अश्वका
समीप ही स्यदन एक आ गया।
इतस्तत सैन्धव स्वीय टापसे
अ-धूलि धूलिध्वज थे बिखेरते।

(५०१–३४)

× ×

तुरन्त ही दिव्यरथी शतागसे
हुआ महीपै अवतीर्ण सामने,
विनीत हो, और निबद्ध-पाणि हो
यतीन्द्रसे की इस भाँति प्रार्थना —
"अवाप्त की है वह उच्च भूमिका,
प्रभो ! मिला सो वरदान आपको,"

× ×

"अत चलो सप्रति दिव्य-लोकमें—
निसर्ग-अत पुरमें—जहाँ प्रभो!
समस्त-देवासुर-मौलि-लालिता
विराजिता है वह आदि-देवता।
(५०२–४२)

× ×

मनुष्यके सुन्दर रग-रूपमें
जिनेन्द्र-आत्मा अलकेश-सग ही
हुई समासन्न, तुरन्त व्योमको
विशाल धाराट उड़े विमान ले।
(५०४–४५)

× ×

जहाँ न पानी-पवनानलादिका
प्रवेश होता महिका न व्योमका
नितान्त एकान्त-निवासमें कहीं
जिनेन्द्र थे, और अनन्त शक्ति थी।
(५१२–७८)

× ×

पवित्र एकान्त! त्वदीय अकमें,
त्वदीय छाया-मय मजु कुजमें,
मुनीन्द्र, योगीन्द्र, किसे न अतमें
सदैव दैवी-सहचारिणी मिली।
(५१२–७९)

"खडा रहा स्यदन एक याम ही
जिनेन्द्र लौटे सँग दिव्यशक्तिके

प्रकाशके अन्दरमें छिपे हुए
सुव्यक्ति दोनो द्रुत एक हो गए"
(५१३-८०)

कविने इस प्रकार भगवानके विवाहका आध्यात्मिक रूप दिया है और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर आम्नायकी मान्यताओमे सामञ्जस्य बिठाया है।

इसी प्रकार कविने भगवानके दिगम्बरत्वके विषयमे भी समन्वय किया है। उन्होने माना है कि दीक्षाके समय भगवान निर्ग्रन्थ-निर्वस्त्र हो गए थे, किन्तु देव-दूष्य समीप था —

"अहो अलकार विहाय रत्नके
अनूप रत्न-त्रय-भूषिताग हो
तजे हुए अबर अंग-अंगसे
दिगम्बराकार विकार शून्य हो।
समीप ही जो पट देव-दूष्य है
नितान्त श्वेताम्बर-सा बना रहा
अग्रथ, निर्द्वन्द्व महान संयमी,
बने हुए हो जिन-धर्मके ध्वजी।
(४३२-४३३ पृ० ११९-१२०)

'वर्द्धमान' के पाठक यदि ध्यानसे ग्रथका अध्ययन करेगे तो पाएँगे कि कविने दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नायमें ही नही, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्ममें भी सामञ्जस्य बिठानेका प्रयत्न किया है। कवि स्वयम् ब्राह्मण हैं। उन्होने अपनी ब्राह्मणत्वकी मान्यताओको भी इस काव्यमे लानेका प्रयत्न किया है। वास्तवमें भगवान महावीरके जीवनमें ही सच्चे ब्राह्मणत्वको आदरका स्थान प्राप्त है। दिगम्बर आम्नायानुसार इस बातका कम महत्व नही कि केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर ६६ दिन तक भगवानका उपदेश न हो सका क्योकि उनकी वाणीको हृदय-ग्राह्य बना कर जन-जनमे प्रचार करनेकी क्षमता रखने वाला व्यक्ति,

जिसे शास्त्रीय भाषामें 'गणधर' कहते है, प्राप्त न हो पाया और जब यह महाज्ञानी पुरूप प्राप्त हुआ तो वह अपने समयका प्रकाण्ड विद्वान इन्द्रभूति गौतम था जो जन्म और जातिसे ब्राह्मण था। भगवानके उपदेशसे प्रभावित होने वाले और उनके धर्ममे दीक्षित होने वाले प्रारभिक व्यक्तियोमें ब्राह्मणोकी ही बहुलता थी।

यद्यपि भगवान महावीरकी साधना और उपदेशका एक प्रधान लक्ष्य वैदिक-यज्ञोकी हिंसावृत्तिको रोकना, और वैदिक क्रियाकाडके अर्थहीन और स्वार्थपूर्ण बन्धनोंसे सर्व-सामान्यका उद्धार करना था, किन्तु वेदके जिन दार्शनिक अगोमें तत्कालीन विद्वानोको पूर्वापर विरोध प्रतीत होता था, उस विरोधका निराकरण भी भगवान्ने जैन-दर्शनके मूल-सिद्धान्तोंके आधार पर किया। वेदोंके दार्शनिक भागमें जहाँ पूर्व तीर्थंकरो द्वारा प्रचारित श्रमण सस्कृतिकी विचारधारा ग्रहण की गई है, उसका निदर्शन उसी सस्कृतिके आधार पर किया जा सकता था।

ऊपर जिन इन्द्रभूति गणधरका उल्लेख किया है वह भगवानके प्रधान शिष्य उसी समय बने जब भगवानकी विवेचनासे उनका दार्शनिक सशय नष्ट हो गया। जैनागमोमें इस तात्विक चर्चाका जो उल्लेख आया है उससे प्रतीत होता है कि इन्द्रभूति गौतमको आत्मा (पुरूप) के अस्तित्वमें शका थी। उसने वेदमें पढा था —

"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य सज्ञास्ति"।

इन्द्रभूतिने इसका अर्थ समझा था —

"विज्ञाघन अर्थात् चेतनापिंड, भूतपादर्थो अर्थात् जल, पृथ्वी, अग्नि आदि भूत-समुदायसे उत्पन्न होकर उसी भूतसमुदायमें विनष्ट हो जाता है। प्रेत्य अर्थात् परलोककी कोई सज्ञा नहीं—परलोक नामकी कोई वस्तु नहीं।

और इन्द्रभूतिने वेदमें यह भी पढा था कि "स वै अयमात्मा ज्ञानमय"—यह वही ज्ञानमय आत्मा है"। अत उसे शका थी कि विज्ञानघन वाली भूतिशक्तिको ही आत्मा माना जाए जो विनष्ट हो जाती है अथवा ज्ञानमय आत्माका अलग स्वतत्र अस्तित्व माना जाए जिसका प्रयक्त्व ऋपिने 'स वै अयमात्मा

समस्त-ससार-हितार्थ मैं सदा
स्वजन्म लेता करता सुकर्म हूँ" (२९६-४६)

× × ×

स्वमृत्यु सध्या तक यों चले चलो
न दूर-यात्रा-श्रम हो, मुझे भजो। (२९७-४९)

एक स्थानपर कविको जैन आर्यकाओंकी वेशभूषाके सम्बन्धमें भ्रम हो गया मालूम होता है। प्रसग मिलाकर देखिए —

" नवार्जिका-सी त्रिशला प्रतीत थी" (९१-७२)

काव्यमें दो चार स्थलोपर कविके हाथसे सर्वसम्मत इतिहासका सूत्र भी छूट गया है।

महारानी त्रिशला सो रही हैं। स्वप्न देखनेका क्षण आ गया। रात्रिका वह चतुर्थ याम है। पर, आजके-दिन-जैसी कल्पना की गई है कि तीनका घटा बजनेवाला है और नीलागमें स्वप्नोकी बोली छूटनेवाली है —

"कुस्वप्न-दुस्स्वप्न समस्त विश्वके
सजे हुए हैं मन पण्य-वीथिमें
प्रभात घटा अब तीनका बजा
किन्हे करेगी क्रय भूप-योषिते! (१०६-२०)

'ह्वेल' मछली, अलक्षेन्द्र (Alexander) और स्थानकवासि साधुके उल्लेख भी इसी श्रेणीमें आते हैं —

त्रिशलाको स्वप्नमें सागर दिखाई दे रहा है —

"समुच्च थी उत्थित वीचि भित्ति-सी
अजस्र आलोडित ह्वेल कृत्तिसी (१०९-३३)

भगवान महावीरकी दिग्विजययात्रा चल रही है —

बने महाद्वीप भविष्य-भूतके
सुमध्यमें जीवन अन्तरीप-सा
सम्हार ले जो पथ वर्तमानका
वही अलक्षेन्द्र-समान ख्यात हो (३०४-७६)

प्रकृति वर्णनके प्रसगमे कहा गया है —

"प्रसन्न है सम्प्रति अन्तरिक्ष भी
प्रपन्न ज्यो स्थानकवासि साधु हो (१२६–३९)

कालानुक्रमकी दृष्टिसे उक्त चारो उल्लेख भगवान महावीरके ऐतिहासिक युगसे मेल नही खाते क्योकि उस समय तक ऐसी उपमाओ और कल्पनाओका आधार-अस्तित्व हीन था। पर, यदि इतिहासकी वात छोड दी जाये तो जहाँ तक आजके पाठककी रसानुभूतिका सम्बन्ध है, उपर्युक्त चारो उपमाये सुन्दर और यथार्थ है। ऐतिहासिक सत्यके अतिरिक्त एक और सत्य है जिसे 'काव्य-गत-सत्य' कहते हैं। इस 'काव्य-गत-सत्य'का मूल्य रस-खोजी पाठकके लिए ऐतिहासिक सत्यसे भी अधिक है। हाँ, समालोचककी दृष्टि इतिहास-गत-सत्यपर भी समान रूपसे स्थिर है। वह तो टोकेगा ही।

इतिहासकी वात उठ गई है, इसलिए यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि भगवान महावीरके जीवन-इतिहासकी उपलब्ध सामग्री इतनी अल्प है और हमारी कई मान्यताये सम्भवतया इतनी निराधार हैं कि विद्वानोकी उदासीनतापर खेद और श्रद्धालुओके विश्वासपर विस्मय होता है।

भगवान महावीरके जीवन-इतिहासके सम्बन्धमें दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओमें कितना गहरा अन्तर है यह ऊपर दिखाया गया है। लगता है जैसे सम्प्रदायोकी श्रद्धाने इतिहाससे चाकरी करवाई हो। भगवानका जीवन-वृत्त यदि स्पष्ट न हो तो समझमें आ सकता है, पर जव भगवानके जन्मस्थान और निर्वाण-स्थानके विषयमें भी भ्रान्ति या सशय देखा जाता है तो विशेष दु ख होता है। लक्ष-लक्ष श्रद्धालुओने राजगृह और नालदाके पास जिस अगदेशीय लिछुवार (मुँगेर ज़िला)के कुडलपुरको भगवानकी जन्मभूमि मानकर शताब्दियोसे उपासनाके अक्षत और पुष्प चढाये है, वह कुडलपुर आज ऐतिहासिकोकी दृष्टिमें उस यथार्थ जन्मभूमिसे भिन्न है जो विदेहमे वैशालीके नामसे जाना जाता है और मुज़फ्फरपुर ज़िलेमें जिस स्थानको वसाढ कहते है। इसी प्रकार मगधके पटना ज़िलेमे राजगृहके पास जिस पावापुरीको भगवानकी निर्वाण भूमि मानकर शताब्दियोसे श्रद्धालुओने

लेखकका वक्तव्य

कोई पांच-छ वर्ष पहलेकी वात है। जैन-मुनि श्री चौथमलजीके तत्वावधानमे श्वेतावर-समाजका एक वहुत वडा समारोह भारत-प्रसिद्ध चित्तौड-दुर्गपर हुआ था। उक्त अवसरपर एक अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन भी स्वर्गीय श्री मनोहरलाल जैन (कानपुर) द्वारा आयोजित किया गया था। समारोह समाप्त हो जानेपर श्री चौथमल तथा मनोहरलालजीने इच्छा प्रकट की कि मै भगवान् महावीरके जीवन-वृत्तको लेकर एक महाकाव्य लिखूं। श्री मनोहरलाल मेरे शिष्य थे, तथा श्री चौथमलजीसे मेरा घनिष्ठ परिचय था। उनकी इच्छाओंके विरुद्ध आचरण करना मैंने अपना धर्म न समझा। एक और वात थी। इस घटनाके पहले मै 'सिद्धार्थ' (महाकाव्य) लिख चुका था, जिसका स्वागत हिन्दीके विद्वानोने इतना किया कि वह ग्रथ विविध विश्व-विद्यालयोंके पाठ्यक्रममें रखा गया तथा समालोचकोने भूरि-भूरि प्रशसा की। इन सभी प्रोत्साहनोंके समक्ष मुझको झुकना पडा। फलत आज वह सकल्प 'वर्द्धमान' होकर आपके सम्मुख उपस्थित है।

श्री चौथमलजीकी इच्छा थी कि भगवान्का चरित्र सर्व-साधारणके लिए पाठ्य हो, तथा श्री मनोहरलालजी, जो कानपुरमें श्वेतावर तथा दिगवर-सभाओके समान-रूपसे अध्यक्ष थे, यह चाहते थे कि इन दोनो आम्नायोंके कटु विभेद दूर हो, वह अपने दृष्टि-कोणको समन्वित कराना चाहते थे। मैंने दोनो मतोको युक्ति-युक्त समझ कर इस ग्रथको लिखा है। दूसरे, मै स्वय सनातन-धर्मको माननेवाला हूं, जिसका आधार ही समन्वय-वाद है। अतएव मैंने इस प्रपानकको श्लाघ्य एव हृद्य समझा तथा ग्रथ-निर्माणमें प्रवृत्त हो गया। जव दो-तीन वर्षके अनन्तर पुस्तक समाप्त हुई तो देखा कि उसको सुनकर अधिक प्रसन्न होनेवाले दोनो सज्जन स्वर्ग सिधार गये। मेरे सम्मुख वहुत वडा प्रत्यूह

उपस्थित हो गया। ग्रथ तो छपता ही, क्योकि जैन-समाज समृद्ध एव उदार है, परन्तु मेरे हृदयकी खिन्नता ज्योकी त्यो आज भी वनी है। इस वीचमें मैंने ग्रथकी पाण्डु-लिपि वनाकर अपने प्रकाशक श्री नाथूराम 'प्रेमी', अध्यक्ष, हिन्दी-ग्रथ-रत्नाकर, (ववई) के पास भेजी। उन्होने उसको प्रकाशनार्थ मत्री महोदय, ज्ञान-पीठ, काशीको प्रेषित की, क्योकि वृद्धता तथा अन्य कौटुविक दुःखके कारण वह कुछ असमर्थ-से हो गये है। श्री शान्तिप्रसादजीने उनके प्रस्तावको स्वीकृत कर लिया, तथा श्री लक्ष्मीचन्द्रजी, एम० ए० और श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीयकी देख-रेख में इसका प्रकाशन सभव हो सका। मै इन तीनो सज्जनोको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ। ——इति शम्

धामपुर,
वसन्त पचमी,
वि० स० २००७

——"अनूप"

प्रस्तावना

भगवान् महावीर

[जीवन-वृत्त]

१. तत्कालीन परिस्थिति—

विक्रमीय सवत्से कोई ६०० वर्ष पहले हमारे देशकी धार्मिक, सामाजिक, एव राजनीतिक अवस्था कुछ और ही थी। देशमे वैदिक धर्म, जो उस समय श्रौत-धर्मके नामसे प्रसिद्ध था, प्राय सर्वत्र प्रचलित था। उपनिषदोका अध्यात्म-वाद तथा कपिल मुनि द्वारा निर्दशित ताप-त्रय-निवृत्तिके सिद्धान्त देशके कोने-कोनेमें फैले हुए थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ही द्विज शब्दका प्रयोग कर सकते थे। अत्यज जातियाँ यज्ञ-क्रियाओकी अधिकारिणी नही समझी जाती थी। यह वैदिक क्रिया-काण्डका युग था। इस युगका उस समयके प्रचलित जैन-धर्मपर बहुत प्रभाव पडा। तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथको दिवगत हुए अभी तीन शताब्दियाँ भी नही हुयी थी कि उनके सघकी अवस्था शोचनीय हो चली। समय यद्यपि धर्म-भावनाका था—परन्तु धार्मिक भावनाएँ, श्रद्धा एव सदनुष्ठानके स्थानपर अध-विश्वास, हिंसा तथा प्रचलित रूढियोको पुष्ट कर रही थी।

अग, मगध, वत्स, अवन्ती, सिंधु आदि अनेक भू-भाग उस समय राज-सत्तात्मक थे, फिर भी वहाँकी प्रजा सुखी और सम्पन्न थी, परन्तु, काशी, कोसल, विदेह आदि अनेक प्रान्त प्रजा-सत्तात्मक भी थे। इन प्रदेशोमे यद्यपि नाम-मात्रके राजा होते थे, तथापि वहाँकी राज्य-व्यवस्था प्रत्येक जातिके नायकके हाथमें रहती थी, जिसको 'गणराज' कहते थे। उस समय विदेह देशकी राजधानी वैशाली थी, जो अपनी समृद्धिके लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी। मिथिलाकी चिर-

सचित समृद्धि उस समय वैशालीमें केन्द्रीभूत हो रही थी। वहाँके निवासी, वृजिक और विदेह, यदि देवता थे तो वैशाली एक अमरावती थी। हैहय-वंशी जैन-राजा चेटकके समयमें वैशाली सुख और समृद्धिकी चरम सीमापर पहुँच चुकी थी। वैशालीके पश्चिम परिसरमें, गंडकी नदीके तटपर, दो उपनगर—ब्राह्मण-कुंड और क्षत्रिय-कुंड—अपनी अतुल समृद्धिके कारण अत्यन्त प्रसिद्ध थे। ब्राह्मण-कुंडपुरके नायक ऋषभदत्त थे, उनकी गृहिणीका नाम देवनंदा था। क्षत्रिय-कुंड पुरके नायकका शुभ नाम सिद्धार्थ था जिनकी रानी त्रिशला वैशालीके महाराज चेटककी भगिनी थी।

२ च्यवन और जन्म—

भगवान् महावीर प्राणत नामक कल्पसे च्युत होकर, विक्रमीय संवत्से ५५३ वर्ष पूर्व, आषाढ शुक्ला षष्ठीकी मध्य रात्रिके समय, कहते हैं[1] ब्राह्मण-कुंडपुरमें देवनंदाकी कुक्षिमें अवतीर्ण हुए। क्षण-भरके लिए सारा जगत दिव्य प्रकाशमें चमक उठा और पृथ्वी हर्षोत्फुल्ल हो गयी। गर्भ-स्थापनाके ८३वें दिन, मध्य रात्रिके समय, सौधर्मेन्द्रकी आज्ञासे हरिणैगमेषी नामक देवने देवनंदाकी कुक्षिसे भगवान्को निकालकर त्रिशलाके उदरमें प्रविष्ट कर दिया, क्योंकि तीर्थंकरोंका जन्म ब्राह्मण-कुलमें एक अनहोनी बात थी। यह गर्भ-परिवर्तन आश्विन वदि त्रयोदशीको हुआ। उस समय त्रिशला देवीने भी वही १४ स्वप्न देखे जो गर्भ-स्थापनाके पूर्व देवनन्दाको दिखायी पड़े थे। हस्ती, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्प-माला, चंद्र, सूर्य, ध्वजा, कलश, पद्म, सरोवर, क्षीर-समुद्र, देव-विमान, रत्न-राशि और निर्धूम अग्नि—यह १४ पदार्थ स्वप्नमें दृष्टि-गोचर हुए। इन स्वप्नोंके दर्शनका फल स्वप्न-पाठियोंने यह बतलाया कि यथा-समय त्रिशला देवीके गर्भसे किसी महान चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकरको जन्म लेना चाहिए। दिगम्बर परम्पराके अनुसार त्रिशला देवीको ही १६ स्वप्न हुए तथा भगवान्का गर्भागमन भी उन्हींकी कुक्षिमें हुआ।

---

[1] श्वेताम्बर परम्परा।

जबसे भगवान् महावीर महारानी त्रिशलाके गर्भमे अवतीर्ण हुए, तभीसे उनके पिता—सिद्धार्थकी राजसत्ता बढने लगी, उनका भाण्डागार धन-धान्यसे परिपूर्ण हो गया। छ मास पहलेसे ही उनके भवनपर रत्नोकी वर्षा होने लगी। विक्रमीय सवत्से कोई ५४२ वर्ष पूर्व, चैत्र सुदि १३की मध्य रात्रिमे भगवान्का जन्म हुआ। उनके प्रभावसे क्षत्रिय-कुडपुर ही नही, सारा ससार लोकोत्तर प्रकाशसे पूर्ण हो गया, तथा केवल सिद्धार्थ ही नही, प्राणि-मात्रने अनिर्वचनीय आनदका अनुभव किया। जन्मके समय स्वर्गमें इन्द्रासन कपित हो उठा एव देव-गण तथा देव-कुमारियाँ जन्मोत्सवमे भाग लेकर अपनेको धन्य मानने लगी। जन्मके १२वें दिन नामकरण-सस्कार सम्पन्न हुआ। भगवान्के जेष्ठ भ्राता[1] का नाम युद्धवीर (अथवा, नन्दि-वर्द्धन) था, अत उनका नाम महावीर (अथवा, वर्द्धमान) रखा गया।

३ बाल्यावस्था—

कुमार महावीरकी बाल्यावस्था राजकुमारोचित वैभवसे सम्पन्न थी। माता-पिता अपने कनिष्ठ पुत्रको अधिक भाग्यशाली समझते थे। धातृयाँ, भृत्य, तथा बाल-मित्र आदि सभी सुख-साधन उनके लिए प्रस्तुत किये गये थे। भगवान् बाल्यावस्थासे ही विवेक, शिष्टता, गभीरता आदि गुणोंसे अलकृत थे। वह अपने असाधारण गुणोसे बडे-बडे ज्ञानियोको भी चकित कर देते थे। मति, श्रुति, अवधि आदिक अलौकिक ज्ञान उनके बाल-हृदयको आलोकित करते थे। यद्यपि राजकुमारकी बाल्यावस्थामें अनेक ऐसी घटनाएँ हुयी जो वास्तवमे चमत्कार-पूर्ण कही जा सकती हैं। उदाहरणार्थ एक घटना, आमलकी क्रीडा, उल्लेखनीय है —

एकबार जब कुमार महावीर आमलकी नामक खेल खेल रहे थे, तब इन्द्र-द्वारा प्रेरित एक देव उनके साहस तथा सामर्थ्यकी परीक्षा लेने आया। वह सर्प बनकर एक वृक्षके नीचे बैठ गया और फुकार करने लगा। दूसरे सभी बालक

---

[1] श्वेताम्बर मान्यता।

भयभीत हो गये, परन्तु कुमारने उनका दमन कर दिया। तदनन्तर वह देव एक बालक बनकर अन्य बालकोंके साथ खेलमें मिल गया तथा कुमारको अपनी पीठपर बिठाकर दौड़ने लगा। दौड़ते-दौड़ते उसने अपना शरीर बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। यह देखकर कुमारने उसकी पीठपर एक मुष्टिक प्रहार किया। तब वह देव व्याकुल होकर पुन अपने पूर्व-रूपमें आ गया। वह प्रकट होकर निवेदन करने लगा, "भगवन्, मैं इन्द्र-द्वारा प्रेरित एक देव हूँ। मैं आपकी परीक्षा लेने भेजा गया था और अब प्रशसक बनकर जा रहा हूँ। आप सत्यमेव महावीर हैं।" इस कथाका निर्देश-मात्र इस ग्रथमें किया गया है।

४ विवाह-प्रसग—

दिगम्बर-सम्प्रदाय भगवान् महावीरको अविवाहित मानता है, परन्तु श्वेताम्बर ग्रथकार उनको विवाहित मानते हैं। श्री भगवान्के मोक्षगामी होनेके बहुत वर्षके अनन्तर विदेह देशमें घोर अकाल पड़ा था। फलत उनके अनुयायी, जो जीवित बच सके, दक्षिणकी ओर चले गये। अनुयायियोंके तितर-बितर हो जानेके कारण बहुत-सी धार्मिक सामग्री नष्ट-भ्रष्ट हो गयी तथा उनके जीवन-वृतान्तका बहुत-कुछ भाग लुप्त हो गया। अतएव, ऐतिहासिक आधारपर उनकी जीवनीका लिखना असभव हो गया। कहा जाता है कि उनकी पत्नीका नाम यशोदा तथा कन्याका प्रियदर्शना था। कुछ हो, विवाह होने तथा न होनेसे उनकी वैयक्तिक महत्तापर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह ग्रथ साम्प्रदायिक दृष्टि-कोणसे नहीं लिखा गया है, अत लेखकका क्या मत है, यह जाना नही जा सकता। यो तो लेखकने मुक्ति-दाराका पति मानकर भगवान्की पूजा-प्रशसा की है, परन्तु उसने तो एक काव्य लिखा है न कि उनका ऐतिहासिक जीवन-वृत्त जो सर्वथा अप्राप्य एव अपूर्ण है।

५ अभिनिष्क्रमण—

भगवान्को २८ वर्षकी आयु तक पहुँचते-पहुँचते उनके माता-पिताका देहान्त हो चुका था। अब उनको ससारसे विराग हो गया था परन्तु परिजनोंके अनुनय-विनय करनेपर दो वर्षके लिए उन्होंने गृह-त्यागका निश्चय स्थगित कर

दिया और अपना सयमित जीवन पूर्व-वत् बिताते रहे। कोई ३० वर्षकी अवस्थामे उन्होने अपना ध्यान दीन-दुखियोंके उद्धारकी ओर आकृष्ट किया और प्रतिदिन दान देते-देते अपनी सारी सपत्ति उनको दे डाली। धन-धान्य, भूमि-परिवार आदिसे अपना चित्त हटाकर, राज्य-वैभवको पूर्ण परित्याग कर, मार्गशीर्ष शुक्ला दशमीके दिन चौथे पहर चद्र-प्रभा नामक पालकीमे सवार होकर, वह राज-भवनसे निकल पडे। उस समय राज-कुटुम्ब, राज्याधिकारी, सेना आदिके अतिरिक्त सैकडो आ-बाल-वृद्ध नागरिकोने उनका अनुगमन किया। नगरके बाहर, ईशान दिशाकी ओर, ज्ञात-खड नामक उद्यानमें उनके दीक्षा-महोत्सवकी शोभा-यात्रा एक अशोक वृक्षके नीचे पहुँची। वहीपर भगवान्‌ने वस्त्राभूषण परित्याग कर, पच-मुष्टिक केश-लोचके अनन्तर, अपने भावी जीवनका दिग्दर्शन करानेवाली यह प्रतिज्ञा की —

"मै सम-भावको स्वीकार करता हूँ और सर्व-सावद्य-योगका परित्याग करता हूँ। आजसे यावज्जीवन, कायिक, वाचिक तथा मानसिक सावद्य-योग-मय आचरण न तो स्वय करूँगा और न करनेवालेका अनुमोदन करूँगा।" उक्त प्रतिज्ञा करते ही उनको "मन पर्य्यय" नामक ज्ञान प्राप्त हुआ।

६ तपस्वी जीवन—

दीक्षा लेकर भगवान् प्रव्रज्या कर गये। साढे बारह वर्ष तक उन्होने कठोर तपस्या की। तपस्वी-जीवनमें उनको नाना प्रकारके दु ख, घोर आपत्तियो तथा अति कठोर विपदाओका सामना करना पडा। सर्प, अग्नि, जल आदिके भयोको धैर्य्य-पूर्वक सहन करना पडा। राज-दडसे भी वे न बच सके। चोर अथवा गुप्त-चर समझकर राज-कर्मचारियोने उनको नाना प्रकारके दड दिये, परन्तु भगवान् उन सबको साहस और धैर्य्यके साथ सहते रहे। न तो वह किसी अप्रीतिकर स्थानमें ठहरते थे और न भिक्षाके लिए किसी गृहस्थसे याचना करते थे। वह नित्य ध्यानमे लीन, मौन-व्रत पालन करते हुए, दिनमें केवल एक बार हाथमे लेकर भोजन करके अपने दिन बिताते थे। उन्ही दिनो उनको गोशालक नामका एक साधु-वेषी व्यक्ति मिला, जो बिना उनकी इच्छाके साथ-साथ हो लिया।

परन्तु वह धूर्त निकला और, अतमें, कुछ दिन बाद भाग गया।

इस प्रकार भगवान् तपश्चर्य्यासे अपने पूर्व-कृत कर्मोका क्षय करने लगे। विषम उपसर्ग तथा घोर परीषहोको सहते हुए तथा विविध ध्यान-तप आदिका निरंतर अभ्यास करते हुए दृढ-प्रतिज्ञ वीर भगवान्ने साढे बारह वर्षसे कुछ अधिक समय तक कठिन तप किया तथा क्रोध, मान, माया आदि कषायोंके ह्रास हो जानेसे उनमें क्षमा, मृदुता, आर्जव, सतोष, प्रभृति आत्मिक गुणोका विकास हुआ। तब उनका जीवन लोकोत्तर एव निर्मल हो गया। इस १२-१३ वर्षके दीर्घ-कालमें भगवान्ने केवल ३४९ दिन ही पारणा की तथा सभी उपवास निर्जल ही रखे।

एक दिन जभिय (जृम्भिक) नामक गाँवके समीप, ऋजुवालिका नदीके उत्तर तटपर देवालयके समीप ही शाल-वृक्षके नीचे भगवान् ध्यानावस्थित हो गये। कामदेव द्वारा परीक्षा लिये जानेपर, उत्तीर्ण होकर, वह यहाँपर पधारे थे। शीघ्र ही शुक्ल ध्यानके दो सोपान पार कर, उन्होने चार घातिक कर्मोका क्षय किया। उसी समय (वैशाख शुक्ला दशमीके चौथे पहर) उन्होने केवल ज्ञान प्राप्त किया। अब भगवान् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो गये। सपूर्ण लोकालोकान्तर्गत, भूत-भविष्यत्, सूक्ष्म-व्यवहित, मूर्तामूर्त पदार्थ उनके ज्ञानमें अलोकित होने लगे।

७ तीर्थंकर अवस्था—

उस समय पावा (मध्यमा) नगरीमें एक बृहत् यज्ञ चल रहा था। सोमिला-चार्य्य नामक एक विद्वान ब्राह्मण उस सत्रके यजमान थे। उसमे देश-देशान्तरके बडे-बडे विद्वान ब्राह्मण आमन्त्रित किये गये थे। केवल-ज्ञान-प्राप्त महावीरने सोचा कि यह अवसर अपूर्व लाभका कारण होगा, यज्ञमें आमन्त्रित विद्वान ब्राह्मण प्रतिबोध पावेंगे और जैन-धर्मके आधार-स्तभ बनेंगे।

अत भगवान्, वहाँसे १२ योजन मार्ग रातभरमें पार कर, पावा नामक नगरीमें पहुँचे। दूसरे दिन एक महती सभामें लोक-अलोक, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष आदिका अस्तित्व सिद्ध किया।

नरक क्या है, नरकमें दु ख क्या है, जीव नरकमे क्यो जाते हैं, तिर्यंच गतिमे जीवोको किस प्रकार शारीरिक एव मानसिक कष्ट सहन करने पडते है, इत्यादि प्रश्नोका विवेचन किया। देव-गतिमें पुण्य-फलको भोगकर अविरत जीव किस प्रकार पुन ससारकी नाना योनियोमे भ्रमण करते हैं, इसका भी रहस्य उन्होने उद्घाटित किया। अतमे भगवानने, मनुष्य-योनिको अधिक महत्त्व-पूर्ण तथा दुर्लभ वताते हुए, उसको सफल वनानेके लिए पाँच महाव्रत, पाँच अणुव्रत, सात शील तथा सम्यकत्व-धर्मको समझाया। फलत उस यज्ञमे आमन्त्रित ११ प्रधान ब्राह्मणोने भगवान्से दीक्षा ग्रहण की। उन ११ वैदिक ब्राह्मणोको वेद-विषयक शकाएँ थी। भगवान्ने तात्त्विक दृष्टिसे विवेचना करके उनका समाधान किया। अत सभी ब्राह्मणोको विश्वास हो गया कि भगवान्का कथन ही यथार्थ 'वेद' है। कहा जाता है, इसके अनतर ४४११ ब्राह्मणोने निर्ग्रन्थ प्रवचन अगीकार किया तथा भगवान्के श्रामण्य-धर्मको स्वीकार किया।

तदनन्तर कोई तीस वर्ष तक भगवान्ने, विहार तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशो-में घूम-घूमकर, जैन-धर्मका प्रचार किया। उन्होने समय-समयपर अनेक प्रसिद्ध विद्वानो तथा राजाओको दीक्षा दी। इस दीर्घ-कालीन धर्म-प्रचारका विवरण देनेके लिए एक अलग ही ग्रथ चाहिए। वह विवरण धार्मिक होते हुए भी काव्यके लिए उपयुक्त विषय नही है। अपने जीवनके अतिम समयमे भगवान् पुन पावा-में पधारे। यही उन्होने अपने अतिम उपदेश भी दिये। उनके अतिम उपदेशोकी अखड धारा कार्तिक अमावस्याकी पिछली रात तक चलती रही। ब्रह्ममुहूर्त होते ही वे इस असार ससारको वास्तविक धर्मका सार देकर विक्रमीय सवत् पूर्व ४७०मे सिद्धपद प्राप्त कर गये।

वर्द्धमान

पहला सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

अनूप भू भारतवर्ष धन्य है,
धरित्रि कोई इस-सी न अन्य है
इसी मही-मध्य अनादि-काल से
समस्त तीर्थंकर[1] जन्म ले रहे।

(२)

प्रसिद्ध निःश्रेयस[2]-प्राप्ति के लिए
यही महापावन पुण्य देश है।
यही सदा कर्म-विनाश-कार्य के
लिए तपस्वी सुर भी पधारते।

(३)

हिमाद्रि-विन्ध्याचल-मध्य भूमि मे
हुआ समुत्पन्न न जो न धन्य सो।
सुना गया देश पुराण काल से
प्रसिद्धि-सवेष्टित[3] धर्म-क्षेत्र है।

---

[1]जीवन-मुक्त अथवा ईश्वर, भवसागर-तारक। [2]मुक्ति। [3]गस्त अथवा लिपटा हुआ।

(८)

प्रसिद्ध भू मे यह आर्य्य-खड है,
हुई यही उन्नति कर्म[1]-धर्म की,
तपस्वियो के बहु योग-याग से
विशुद्ध है, सात्त्विक है, पवित्र है।

(९)

समुच्च-आदर्श-विधायिनी मही
प्रसिद्ध है भारत सर्व विश्व मे,
यहाँ महा-मंत्र-मयी प्रभा लिए
सु-धर्म-साम्राज्य सदैव सोहता।

(१०)

जहाँ मही का दृढ मेरु-दड-सा
समुच्च प्रालेय-गिरीन्द्र[2] राजता,
महीध्र[3] कैलाश विशाल मुंड-सा
किरीट-सा मेरु विराजता जहाँ।

(११)

सु-केश-सी कानन-श्रेणियाँ जहाँ
प्रलम्ब-माला-मयि-अर्क-जान्हुजा[4],
कटिस्थ विन्ध्याद्रि नितम्ब-देश-सा
लसा पद-क्षालन-शील सिधु है।

---

[1]असि मषि आदि षट् कर्म। [2]हिमालय पर्वत। [3]पर्वत। [4]जमुना और गगा।

(४)

शरण्य[1] धर्मार्थि-विमोक्ष-कामका,
अरण्य है जो तप-दान-मान का,
विशुद्ध जो सुन्दर स्वर्ग-लोक से
वरेण्य है लोक यही त्रिलोक मे ।

(५)

द्युलोक[2]-सख्यात[3] समस्त सौख्य जो,
प्रसिद्ध आत्यंतिक इन्द्रियार्थ है,
बनें भले साधक नाक-लोक के,
परन्तु वे केवल-ज्ञान नाशते ।

(६)

मनुष्य जो भारत-भूमि में हुये,
कभी समुत्पन्न किसी प्रदेश मे,
अवश्य ही वे कर यत्न से सके
विमुक्ति की प्राप्ति स्व-कर्म-नाश से ।

(७)

जहाँ न होता गुण-गान देव का,
जहाँ न हो सेवक साधु धर्म के,
जहाँ प्रतिष्ठा शुभ कर्म की न हो,
न देश है, केवल क्लेश-भूमि है ।

---

[1]शरण-स्थान । [2]स्वर्ग । [3]प्रसिद्ध ।

(८)

प्रसिद्ध भू मे यह आर्य्य-खड है,
हुई यही उन्नति कर्म[1]-धर्म की,
तपस्वियो के बहु योग-याग से
विशुद्ध है, सात्विक है, पवित्र है ।

(९)

समुच्च-आदर्श-विधायिनी मही
प्रसिद्ध है भारत सर्व विश्व मे,
यहाँ महा-मंत्र-मयी प्रभा लिए
सु-धर्म-साम्राज्य सदैव सोहता ।

(१०)

जहाँ मही का दृढ मेरु-दड-सा
समुच्च प्रालेय-गिरीन्द्र[2] राजता,
महीध्र[3] कैलाश विशाल मुड-सा
किरीट-सा मेरु विराजता जहाँ ।

(११)

सु-केश-सी कानन-श्रेणियाँ जहाँ
प्रलव-माला-मयि-अर्क-जान्हुजा[4],
कटिस्थ विन्ध्याद्रि नितम्ब-देश-सा
लसा पद-क्षालन-शील सिंधु है ।

---

[1]असि मसि आदि षट् कर्म । [2]हिमालय पर्वत । [3]पर्वत । [4]यमुना और गंगा ।

(१२)

पुरा इसी भू-तल-वाम-भाग मे
विदेह-नाम्नी, हृदय-स्थली-समा,
अपूर्व-आभा-मयि पूर्व-मेदिनी
अभूत थी, अद्भुत थी, अनूप थी ।

(१३)

[1]विदेह[1] होते तप से नरेन्द्र थे,
विदेह होते जप से मुनीन्द्र थे,
विदेह होते नर दान-मान से,
विदेह था सार्थक नाम देश का ।

(१४)

विशाल तुग-ध्वज चैत्य-[2]धाम से
प्रभूत शोभा-मय दिव्य देश था,
यही किसी काल, किसी प्रदेश मे
जिनेन्द्र-सस्थापित धर्म-सघ था ।

(१५)

मुनीन्द्र-सचालित धर्म का यही
प्रचार था चारु चतुर्दिशा हुआ,
यही अहिसा-व्रत के व्रती सुधी
स्व-धर्म के पालन में प्रसक्त[3] थे ।

---

[1]देह-भान-विहीन । [2]मदिर । [3]लग्न ।

(१६)

स्व-ज्ञान-सवर्धन हेतु वे सुधी,
अधीत[1]-एकादश-अग-धर्म हो,
अवश्य ही आचरते अजस्र थे
सुतीर्थ-तीर्थंकर-पाद-अर्चना ।

(१७)

सुधी यहाँ के जिन-धर्म-सयमी
प्रसक्त नि श्रेयस-प्राप्ति मे रहे,
धरित्रि आ-पत्तन[2]-ग्राम-पल्लिका[3]
जिनेन्द्र-अर्चा-रचना-निलीन थी ।

(१८)

विभावना[4] षोडश[5] कारणादि की
विचारते थे जिन-धर्म के ध्वजी,
प्रसाधना भी बहु-कर्म-त्याग की
अशेष प्राणी करते अजस्र[6] थे ।

(१९)

अनेक प्राणी बहु पुण्य-लाभ स
निवास पाते चिर इन्द्र-लोक में,
पुन वही हो अवतीर्ण, जीवनी
मुदा बिताते इस कर्म-भूमि मे ।

---

[1]पठित । [2]ग्राम । [3]छोटा ग्राम । [4]विचार । [5]तीर्थंकर बनने की सोलह भावनाएँ । [6]निरतर ।

(२०)

बने फलीभूत स्व-कर्म-त्याग मे
पधारते थे उस उच्च लोक मे
जहाँ नही जा सकते सुरेन्द्र भी,
उन्ही नरो की यह जन्म-भूमि है ।

(२१)

यही गृहो में अति उच्च चैत्य थे,
यही वनो में नर योग-लग्न थे,
सुदुर्लभा मानव-धर्म-भावना
इहैव[1] क्रीडा करती अजस्र थी ।

(२२)

यही कही कुंडल[2] नाम की पुरी,
स्वदेश के कुडल-सी मनोरमा,
समुच्च प्राकार[3] समेत सर्वदा
अराति[4] से रक्षित विद्यमान थी ।

(२३)

यही कभी केवल-ज्ञान-सयमी—
समाज तीर्थंकर के लिए मुदा
सदैव कल्याणक[5] में निमग्न था,
मिलिंद ज्यो पद्म-पराग-पान मे ।

---

[1]यहीं । [2]कुड (ल)=क्षत्रिय-कुड, तडागके चतुर्दिक् बसे होने के कारण गोलाकार । [3]प्रकोष्ठ, घेरा । [4]शत्रु । [5]कल्याण देनेवाली पूजा ।

(२४)

समुच्च चैत्यालय, धर्म-सिंधु की
तरंग-माला-सम, वर्तमान थे,
इसी धरा मे जय-घोष से मुदा
अहर्निशा शब्दित देव-धाम थे।

(२५)

यहाँ लिए संपति धर्म-भाव की
स्व-हस्त मे दंपति देव-युग्म[1]-से
अजस्र ही मदिर-द्वार से मुदा
निविष्ट होते, कढ़ते स-भक्ति थे।

(२६)

उदार प्राणी निज द्वार पै खड़े
विलोकते थे पथ दान-पात्र का,
निवेश-शीर्षस्य ध्वजा-समूह भी
बुला रहे थे सुर स्वर्ग-लोक से।

(२७)

पुरी-निवासी जन सत्य-मार्ग मे
विलीन थे धर्म-रहस्य-खोज मे,
सदा सदाचार-विमर्ष में लगे
पगे हुए थे पर-लोक-भाव मे।

---

[1]जोडा या दपति।

(२८)

यही यशस्वी हरि-वंश-व्योम के
दिनेश सिद्धार्थ प्रदीप्तमान थे,
प्रसिद्ध वे भूपति सार्वभौम थे,
सतोगुणी थे, जिन-धर्म-दूत थे।

(२९)

महा विवेकी, शुभ-लक्षणाश्रयी[1],
कला-गुणाधार, अपार विक्रमी,
प्रसक्त थे वे व्रत-शील-ध्यान में
अजस्र ही सम्यक-दृष्टि-युक्त थे।

(३०)

अनेक-विद्याधर-भूमि-गोचरी–
प्रजा-जनानंद-विधातृ[2] भूप थे,
बहूत्सवा[3] क्षत्रिय-कुंड-भूमि के
नरेश सिद्धार्थ प्रसिद्धिवान थे।

(३१)

सदैव विद्वद्वर-भृंग-मंडिता,
नृपाल की, शास्त्र-प्रसून-संयुता
सुपर्व[4]-पत्रान्वित थी विराजती
सभा, महा मंजुल कल्प-वृक्ष-सी।

---

[1]शुभ लक्षणों का आश्रय लेनेवाले। [2]रचनेवाले। [3]अनेक उत्सव वाली। [4]देवता।

(३२)

प्रसिद्ध थी जो धनदाश्रिता[1] तथा
सदैव सम्मानित धर्म-राज[2] से,
समाश्रिता जो गुरु[3] से अजस्र ही
सभा सुधर्मा कवि[4]-सयुता लसी।

(३३)

सुवर्ण-वर्णा, ललिता, मनोहरा,
सभा लसी यो पद-न्यास-शालिनी,
विरचि-सिद्धार्थ-युता, लखी गई
शरीरिणी ज्यो अपरा सरस्वती।

(३४)

उसी सभा मे अहमिद्र-से लसे,
नरेन्द्र थे, देख जिन्हे तुरंत ही
न स्रंश[5] होते रिपु-शस्त्र ही वरन्
दुखी नरो के दुख-दैन्य भागते।

(३५)

जिन्हे सदा उत्कट लालसा रही
विलोक लें विग्रह[6] कल्प-वृक्ष का,
कवीन्द्र वे भूप-सभा-निविष्ट हो
सनाथ भू मे सब भाँति होगये।

---

[1]धनी अथवा कुबेरसे युक्त। [2]धर्माधिकारी, यमराज। [3]बृहस्पति या गुरु। [4]शुक्र या कवि। [5]गिरते या पतित होते। [6]शरीर।

(३६)

परन्तु जो सर्वद[1] सर्वदा उन्हें
विचारते थे, वह यों निराश थे,
न पीठ पाई अरि-वृन्द ने कभी,
न वक्ष देखा पर-नारि ने तथा।

(३७)

तथैव सर्वज्ञ न भूमि-पाल थे,
न जानते थे इतना कदापि वे,
नकार होती किस भाँति की, अहो !
अनाथ को, आश्रित को, अभाग्य[2] को—

(३८)

अराति के शोणित से प्रसिक्त जो,
कृपाण-धारा-पथ, मार्ग से उसी,
निवेश मे आगत इन्दिरा[3] हुई
वहिर्गता कीर्ति हुई नरेश की।

(३९)

प्रसिद्ध है जो वल कर्म-राज का
तथा महा विक्रम[4] शेष-नाग का,
समान एकत्र हुए शरीर मे
अनूप-सिद्धार्थ-वरित्रि-पाल के।

---

[1]सब कुछ देने वाले। [2]भाग्य-हीन। [3]लक्ष्मी। [4]पराक्रम।

(४०)

न मेरु थे, क्योंकि गया सु-दूर सो,
हिमाद्रि भी थे न, बना शिलाढ्य जो,
मुकुन्द[1] अब्धिस्थ,[2] गिरीश[3] नग्न है,
नरेश क्या थे, जन जानते न थे।

(४१)

सदा प्रजा-रंजन, धर्म-पालना,
सुपात्र को दान, जिनेन्द्र-अर्चना,
विचार-संशोधित चार कार्य थे
महान सिद्धार्थ नराधिनाथ के।

(४२)

सरस्वती थी वदनारविन्द मे,
अजस्र था दान करारविन्द में,
स्व-ध्यान जैनेन्द्र-पदारविन्द मे,
स्व-राज्य-लक्ष्मी हृदयारविन्द मे।

(४३)

भयद हेमन्त-जलेव[4] भूप की
सुदीर्घ हेमन्त-निशेव आयु थी,
सुसह्य हेमन्त-रवीव पार्य[5] के
विनष्ट हेमन्त-नलेव शत्रु थे।

---

[1]विष्णु। [2]समुद्रमे। [3]शंकर। [4]जल-सी। [5]सिद्धार्थ।

(४४)

प्रसन्न लक्ष्मी गृह मे विराजती,
तथैव चिंतामणि राज्य-कोष में,
वसी विधात्री[1] मुख-मध्य शोभना,
प्रचड चडी भुज-दंड पै लसी।

(४५)

नरेन्द्र भू पै मलयाद्रि-तुल्य थे
महाहि[2]-शाखा-सम हस्त में लसी
कृपाण सर्पाकृति[3], जो निकालती
सुकीर्ति का कचुक[4] शत्रु-कठ से।

(४६)

सुधैर्य्य, लावण्य, तथा गँभीरता,
अनूप तीनो गुण है समुद्र मे,
परन्तु जो नेत्र-प्रमोद दे सके
नरेन्द्र-सा विग्रह[5] सो न पा सका।

(४७)

न स्वप्नमे भी रण-मध्य भूप को
विमोचती थी सुभगा जयेन्दिरा[6]
प्रभाव[7] से पूर्ण यथैव कान्त को
न छोड़ती है वनिता रति-प्रिया।

---

[1]सरस्वती। [2]बदन। [3]सर्प की आकृति की। [4]तन-त्राण, सन्नाह। [5]शरीर। [6]विजय-लक्ष्मी। [7]सर्वस्व।

(४८)

नृपाल थे व्यस्त सदैव आर्त के
विषाद के भजन मे स-कष्ट[1] के,
न शंखपद्मी न गदी[2], परन्तु वे
यथार्थत दो भुज के मुकुन्द थे।

(४९)

सदा द्विजावास[3] तथैव निर्मली
विशाल थे जीवन[4]-धाम राज्य के,
तडाग-से शोभित पद्म-युक्त वे
नरेश तृष्णा हरते अधीन की।

(५०)

नृपाल कालानल शत्रु-पुज को,
लखे गये कल्प-फली[5] कलाढ्य-से,
उन्हे शरीरी रति-नाथ-तुल्य ही
विलोकती थी गृह-इन्दिरा प्रिया।

(५१)

नरेश की कीर्ति अराति-ओक[6] मे,
अरण्य मे, अब्धि मे, अहार्य[7] मे,
लसी अधो-भूतल-अतरिक्ष मे
महा मनोज्ञा बहुरूपिणी-समा।

---

[1]दु खी (मनुष्य) [2]गदा-युक्त। [3]पक्षी या ब्राह्मणो का निवास।
[4]जल। [5]वृक्ष। [6]गृह। [7]पर्वत।

[मालिनी]

(५२)

जलद-पटल से जो रुद्ध होता नहीं है,
ग्रसित-ग्रसित होता राहु-द्वारा नहीं जो,
अपहृत-छवि नारी-वक्त्र[1] से भी न होता
यश-शशधर[2] ऐसा भूप सिद्धार्थ का था ।

[वंशस्थ]

(५३)

महीप सिद्धार्थ प्रतापवान की
अनूप भार्य्या त्रिशला मनोरमा
विराजती थी छवि-गेह में शुभा
प्रदीप-सी मंजु प्रदीप-दर्शिनी ।

(५४)

गुणान्विता, यौवन-संपदन्विता,
सु-पंडिता, बुद्धि-विवेक-शालिनी,
प्रकाशती चंद्र-कला-समान थी
नृपाल-चित्तोदधि-मोद-वर्द्धिनी ।

---

[1] मुख । [2] चन्द्रमा ।

(५५)

सु-आनना सुन्दर-चद्र-कान्त-सी,
सुकेशिनी नील-शिखा[1]-समान थी,
सु-पाद से आरुण[2] पद्म-राग-सी,
सु-शोभिता रत्न-मयी सुभीरु[3] थी।

(५६)

महा मनोज्ञा गुरु[4] वक्ष की प्रभा
समुज्वला थी मुख-चद्र-चद्रिका,
शनैश्चरा[5] थी युगली सु-पाद की,
नृपालिका थी ग्रह-राशि-सी लसी।

(५७)

शरीर की यष्टि[6] लता-समान थी,
उरोज थे श्रीफल-से लसे जहाँ,
प्रसून-से अग विलोक भूप भी
मिलिन्द-से मुग्ध वने अहर्निशा।

(५८)

दिवा-विलासी[7] मुख का प्रकाश था,
उरोज थे वन्द सरोज-युग्म-से,
मृणाल-से हस्त लसे अनूप थे,
सरोजिनी-सी त्रिशला ललाम थी।

---

[1]मयूरी। [2]लाल। [3]स्त्री। [4]वृहस्पति, गौरव-युक्त। [5]धीरे चलनेवाली अथवा शनि। [6]लाठी या लवाई। [7]कमल।

(५९)

सु-पुष्पिता दन्त-प्रभा-प्रभाव से,
नृपालिका[1] पल्लविता सु-पाणि से,
सुकेशिनी मेचक[2]-भृग-यूथ से,
अनल्प थी शोभित कल्पवल्लरी ।

(६०)

नितम्ब से स्थूल, कृशा सु-मध्य से,
उरोज से उन्नत-भार-सयुता,
समायता लोचन-युग्म से लसी,
सुरागना-सी त्रिशला मनोरमा ।

(६१)

विरचि ने अद्भुत युक्ति से उसे
सुधामयी शक्ति प्रदान की मुदा ।
विलोचनो मे विष-दिग्ध[3]बाण की,
कटाक्ष में मृत्युमयी कृपाण की ।

(६२)

विलोकती मजु मृगी-समान ही
बनी मराली-सम चाल-युक्त सी,
सदा पिकी-सी कल कूजती हुई
निवेश को थी रखती अरण्य-सी ।

---

[1]रानी । [2]नीला । [3]बुझे हुये ।

(६३)

शरीर को भूषित भूषणावली
सदा बनाती, यह तो वृथा कथा,
विभूषणो को अपने शरीर से
बना रही प्रत्युत[1] सो सुरम्य थी ।

(६४)

सुधाधरा सुन्दरि मिष्ट-भाषिणी
सुभाषितो से नृप को विमोहती,
विलोचनो से चकिता मृगी-समा
विलोकती थी मुख प्राणनाथ का ।

(६५)

विलास थे मजु कला-निधान[2]-से,
अशोक-पत्राधर शुभ्र आस्य मे,
अराल[3] विक्षेप कटाक्ष का सदा
सरोज-माला रचता मनोज्ञ था ।

(६६)

अहो ! विना ज्या[4] भ्रुव-चाप की मुदा
कटाक्ष-वाणावलि से नृपाल का
नृपालिका चचल चित्त वेधती
हुयी, लसी शर्व[5]-वधू अपार्यिवा ।

---

[1]वल्कि, अपितु । [2]चद्रमा । [3]टेढा । [4]प्रत्यचा । [5]शकर या भील ।

(६७)

मनोज्ञ बंधूक[1]-सुबंधु ओष्ठ थे,
महा कँटीले दृग केतकाभ[2] थे,
कपोल थे मंजु मधूक[3]-पुष्प से
रदावली दाडिम-बीज-सी लसी ।

(६८)

असेत वेणी मधुपावली-समा,
सरोज-सा आनन भी मनोज्ञ था,
सुकोमला बाहु-छटा मृणाल[4]-सी,
कटाक्ष थे बाण महेश-शत्रु[5] के ।

(६९)

अलक्त बिम्बाधर-सी सरस्वती,
सुरापगा थी मणि-कर्णिका—प्रभा,
सु-चारु वेणी यमुना-प्रवाह-सी,
नृपाल-दारा शुभ तीर्थ-राज[6] थी ।

(७०)

सुगंध होती यदि जातरूप[7] मे,
प्रसूत होती सुमना[8] त्रिरेख[9] से,
अवश्य पाती कटु साम्य धातु में
विलेखनीया सुषमा मुखाब्ज की ।

---

[1]बिम्बाफल । [2]केतकी-पुष्पके सदृश । [3]महुवा । [4]कमल-नाल । [5]कामदेव । [6]प्रयाग । [7]स्वर्ण । [8]चमेली । [9]शंख ।

(७१)

यथा-यथा अंबर त्यागती हुई
प्रसारती स्वर्ण-मरीचि भूमि मे
तथा-तथा लोचन डालती हुई
विलोकती श्याम-सरोज-वृष्टि[1] थी

(७२)

तडाग मे कंज, निशेश व्योम मे,
समुद्र मे रत्न, प्रसून भूमि मे,
रचे पुरा वेधस[2] ने कहीं-कहीं,
परन्तु एकत्र किये यहीं-यहीं ।

(७३)

नरेन्द्र-जाया त्रिशला मदालसा
प्रभूत सौंदर्य्य-सुखोपमा बनी
निवेश के अंगन मे वरांगना
अभौम[3]-आभा-अधिदेवता-समा ।

(७४)

नृपाल के अंगन मे अहर्निशा
विशुद्ध-दुग्ध-च्छवि-अंग-अंगना ।
विराजती केतक-पत्र-लोचना
अनंग के आयुध-सी विशाल थी ।

---

[1]"जनु तहँ बरस कमल-सित-स्रयनी" (तुलसी) [2]ब्रह्मा । [3]स्वर्गीय ।

(७५)

कुच-द्वय-श्रीफल-भग-कारिणी
नृपाल-पत्नी इस भाँति राजती,
सुधा-समापूरित स्वर्ण-कुभ से
अनग'का ज्यो अभिषेक साजती ।

(७६)

मुखेन्दु था इन्दु कलक-हीन ही,
अलक्त'-बिबाधर-बिब-हीन ही,
अहर्निशा फुल्ल-सरोज नेत्र की
अनूप आभा अवलोकनीय थी ।

(७७)

बनी विमाना' त्रिशला-मुखाब्ज से
अवाछनीया शरदिन्दु-चद्रिका,
अनादृता थी करती सरोज को
विलोचनो की प्रचलाचला' प्रभा ।

(७८)

सु-चारु भ्रू की अमिताभ भंगिमा
अनग-चाप-च्छवि-मान मारती,
नृपागना - मेचक - केश - कल्पना
पयोद की भी सुषमा सँहारती ।

---

¹[illegible] । ²[illegible] । ³मान-हीना । ⁴कनखियो तक चचल ।

(७९)

तले घनो के शरदिन्दु की प्रभा
तथा त्रिरेख-च्छवि कोक-द्वन्द्व भी,
पुनश्च रभा-अरविन्द-युग्म से
विचित्र थी शिल्प-कला विरचि की ।

(८०)

समेत-तारल्य मनोज-चाप हो,
पयोज[1] मे भी यदि हो अरालता[2],
निशेश मे जो बसती सुगध हो,
विलोकिय तो त्रिशला-मुखोपमा ।

(८१)

सरोज-सा वक्त्र, सु-नेत्र मीन-से,
सिवार-से केश, सुकठ कबु-सा,
उरोज ज्यो कोक, सु-नाभि भौर-सी,
तरगिता थी त्रिशला-तरगिणी ।

(८२)

अनूप धारा-सम रोम-राजि थी,
मनोज्ञ वीची[3] त्रिवली विराजती
सु-कर्ण थे तीर्थ-शिला-समान ही,
पयस्विनी थी त्रिशला सुशोभिता ।

---

[1]कमल । [2]भगिमा । [3]लहर ।

(८३)

सरोज-लक्ष्मी[1] कर मे विराजती
सु-ओष्ठ-बिंब-च्छवि चूमती हुई,
निशेश न्योछावर आस्य[2] पै हुआ
प्रवाल[3]-शोभा पद छू सुखी हुई।

(८४)

मुखाम्बुज-क्षोद सु-तीर्थ-अंबु-सा,
सु-दन्त ज्यो अक्षत, नेत्र कंज-से,
उरोज थे उन्नत नारिकेल-से,
अनंग-पूजा-समिति-प्रभा लसी।

(८५)

विलोचनो मे श्रुति[4]-सर्पिणि प्रभा,
पदाब्ज मे यावक[5]- दर्पिणी प्रभा,
कराग्र में उत्पल-अर्पिणी प्रभा,
नृपालिका थी रति-तर्पिणी[6] प्रभा।

(८६)

उन्हे अलंकार-प्रकार भार थे,
उरोज थे भार, सरोज भार थे,
सु-केश थे भार, नितंब भार थे,
बनी इति-श्री[7] वह सौकुमार्य्य की।

---

[1]शोभा। [2]मुख। [3]मूंगा। [4]कान। [5]महावर। [6]तृप्त करनेवाली। [7]पराकाष्ठा।

(८७)

नृपाल पत्नी-प्रति प्रेम मे पगे,
जभी शिखा से पद लौ विलोकते
निपात होता महि मे न दृष्टि का
पुन शिखा लौ नख से निवर्तती[१]।

(८८)

अनूप लावण्य-समुद्र-उद्भवा
मनोज्ञ रत्नावलि-सी नख-प्रभा,
अलक्त[२] से रजित शोभना लसी
मृगाक[३]-श्री-खड[४]-विलिप्त रश्मि-सी।

(८९)

नितम्ब-सपीडित पाद-युग्म मे
मनोहरा मेचक-नूपुरावली
विराजती थी त्रिशला-पदाब्ज मे,
स-रोष भ्रू की जिस भाँति भगिमा।

(९०)

सु-वर्ण-मजीर[५]-मयी सु-शोभना
मनोज्ञ जघा-लतिका-द्वयी लसी,
यथैव शाखा युग सौकुमार्य की
प्ररूढ हो कुकुम से विलेपिता।

---

[१]लौटती। [२]महावर। [३]चद्रमा। [४]लाल चदन। [५]बिछुवे।

(९१)

महान-मुग्धा-वनिता-वराग म
असेत केशाकुर यो विराजते,
धरे गये तर्पण-हेतु काम के
नितान्त काले तिल स्वर्ण-पात्र मे ।

(९२)

मनोज की उत्तम रंग-पीठ-सी
शृंगार के विष्टर[1]-सी सु-वर्णिनी,
ललाम-लावण्य-प्रसार-पक्ति-सी
प्रशसनीया जघन-स्थली लसी ।

(९३)

निबद्ध काची कटि मे मनोज्ञ थी,
यथैव गगा-गत सारसावली[2],
स-दर्प बाँधी अथवा मनोज ने
द्वितीय मौर्वी[3] निज चाप मे यथा ।

(९४)

नितम्ब को देख नृपाल-चित्त में
अनूप ऐसी-कुछ तर्कना उठी
लसी शिलाएँ युग चन्द्र-कान्त की
कि मजु चक्र-द्वय हो मनोज के ।

---

[1]चिह्न । [2]हंसश्रेणी । [3]प्रत्यंचा ।

(९५)

लसी प्रभा पेशल[1] पृष्ठ-भाग की,
प्रशस्त हो हाटक[2]-पट्टिका यथा;
कि पत्र रंभा-फल का विराजता
अनूप दो-श्रीफल-मध्य मे उगा ।

(९६)

प्रविष्ट हो श्यामल रोम-वल्लरी
विराजती थी तट नाभि-रध्र[3] के,
कि मेखला[4] की मणि से विताड़िता
असेत लेखा तम की प्रकाशती ।

(९७)

सवार होके कुच-कुभ-यान पै
नृपाल की दृष्टि भ्रमी इतस्तत ।
न पा सकी पार प्रकाश-सिधु का
समा गयी नाभि-ममान भौर मे ।

(९८)

नृपेन्द्र ने कामिनि-मध्य-देश को
विलोकते ही निज दृष्टि दूर की ।
गिरे नही ईक्षण[5]-भार से कही
सु-मध्य मे सस्थित अस्ति-नास्ति के ।

---

[1]कोमल । [2]स्वर्ण । [3]छिद्र । [4]करधनी । [5]दृष्टि ।

(९९)

न था, अहो[1], हीरक-हार वक्ष पै
लसा घटी-यन्त्र सु-नाभि-कूप मे,
अनूप लावण्य-समुद्र[1] मे जिसे
अवश्य था यौवन-वृक्ष सींचना।

(१००)

जिगीषु[2] कामावनि-पाल की कुटी,
न कंचुकी उच्च उरोज पै लसी,
बनी स-वस्त्रा रति-नाथ-शत्रु के
अहार्य[3] पै जीत समस्त मेदिनी।

(१०१)

उरोज-संविद्ध नपाल-चित्त मे
महान इच्छा सुत-प्राप्ति की जगी,
विभिन्न जो है करते निजाग को
पराग के छेदक निर्व्यथा[4] वही।

(१०२)

नलोपमा,[5] अक्षवती[6], स-ऊर्म्मिका,
मनोहरा, सुन्दर-पर्व[7]-संकुला,
नरेन्द्र-जाया-कर-अंगुली लसी
कथा महाभारत के समान ही।

---

[1]पानी। [2]जीतने की इच्छावाली। [3]पर्वत। [4]विना कष्ट के। [5]नल की लकडी या राजा विशेष। [6]चौसर। [7]पोर।

(१०३)

विराजमाना दश अंगुलीय[1]की,
परम्परा-सी सुम-चाप-लक्ष्य की,
प्रकोष्ठ में कंकण था लसा, यथा
प्रसून-ज्या मंजु प्रसून-बाण की।

(१०४)

मृणाल से बाहु, अशोक-पत्र-से
लसे करों के तल भूप-नारि के,
यथैव पुष्पेषु[2]-शरासनस्थ हो
सरोज के पल्लव रक्त-वर्ण के।

(१०५)

सुनी सुधा-मण्डित-माधुरी-धुरी
जभी सु-वाणी त्रिशला मुखाब्ज से
पिकी कुहू-रोदन में रता हुई,
प्रलब[3] भू में परिवादिनी[4] बनी।

(१०६)

विलोक योषा म्रियमाण हो गये
नृपेन्द्र पुष्पेषु-इषु-प्रहार से,
मिली प्रिया के मुसकान की सुधा
जिये, हुये उत्थित भूमि-अंक से।

---

[1]अंगूठी। [2]कामदेव। [3]लेट गयी, अपमानित हो गयी। [4]वीणा।

(१०७)

न इन्दु भी है त्रिशला-मुखेन्दु-सा,
असार सारी कवि-कल्पना हुई,
कटाक्ष-भ्रू-भग कहा सुधाशु मे
प्रसाद[1]-कोपादि कहाँ शशाक मे ।

(१०८)

विलोकते ही त्रिशला मुखेन्दु को
नृपाल के नेत्र चकोर हो गये,
परन्तु ज्यो ही क्षण-एक के लिये
पुन विचारा भ्रम व्यक्त हो गया ।

(१०९)

कहाँ प्रिया के मुख को महा प्रभा,
वराक[2] शुभ्राशु[3] कहाँ, न तुल्यता,
कलक से श्रीत्रिशलास्य हीन था
स-दोष दोषाकर[4] विश्व-ख्यात है

(११०)

समुद्र मे जन्म, मलीन प्रात मे,
सदैव न्यूनाधिक, राहु-ग्रस्त भी,
वियोग मे दु खद चक्रवाक को
न अब्ज[5] भी था त्रिशला मुखाब्ज-सा ।

---

[1]प्रसन्नता । [2]बेचारा । [3]चद्रमा । [4]चद्रमा । [5]चद्रमा ।

(१११)

सरोज-द्रोही, रस-शून्य-देह है,
सुगंध से हीन शशांक ख्यात है,
न साम्य पाती त्रिशला-मुखेन्दु का
मलीमसा[1] प्राकृत चंद्र की कला।

(११२)

द्विधा किया चन्द्र विरंचि ने यदा
मनोहरा की रचना कपोल की,
मृगांक[2]-नि[3]ष्यदित-विन्दु से तदा
महा मनोज्ञा रदनावली रची।

(११३)

अनूप ताली[4]-दल से मनोज्ञ वे
सु-कर्ण थे शाण कटाक्ष-वाण के।
मनोज्ञ नासा सित-मौक्तिकान्विता,
सुलेख्य तूणीर[5] प्रसून-पुंख[6] का।

(११४)

शशांक के मंडल में सरोज दो
प्ररूढ होते यदि, तो अवश्य ही
कवीन्द्र पाते वह कष्ट के विना
महामनोज्ञा त्रिशला-मुखोपमा।

---

[1]मैली। [2]चंद्रमा। [3]निकला हुआ। [4]ताड़-वृक्ष। [5]तरकस। [6]कामदेव।

(११५)

असेत वेणी[1] घन नागिनी-समा
नितम्ब से लम्बर पै रही हुई
सिंदूर-जिह्वा अपनी पसारती
मुखेन्दु-पीयूष-रसावलेहिनी[2] ।

(११६)

न सृष्टि थी प्राकृत अब्ज-योनि[3] की
मनोरमा श्री त्रिशला सुलोचना,
स्वरूप की संपत्ति और हो बनी
अनन्य-चातुर्य-परम्परा-मयी ।

(११७)

अमूर्त, तो भी, कटि मूर्त तन्त्र[4] थी,
अशक्त, तो भी, तरला सु-दृष्टि थी,
अहो, अलंकार-विहीन अंग की
महा मनोहारिणि अंगना लसी ।

(११८)

यथा-यथा भूप धँसे हृदब्धि में
तथा-तथा कंज-उरोज भी बढ़े,
यथा-यथा अब्ज-पयोज[5] यों हँसे
तथा-तथा नेत्र-सरोज भी बढ़े ।

---

[1]चोटी । [2]चाटनेवाली । [3]ब्रह्मा । [4]तार । [5]चंद्रमामें उत्पन्न कमल ।

(११९)

सरोज था, या मुख था, कि इन्दु था,
सु-मीन थे नेत्र, कि काम-वाण थे,
सु-गुच्छ थे, या खग थे, उरोज वे
तडिल्लता[1] थी त्रिशला कि तारिका।

(१२०)

न देव-कन्या वह थी, न किन्नरी
अनूप गधर्व-कुलोद्भवा न भी,
विरचिका भी तप किन्तु रूप से
प्रणाश[2] मे श्री त्रिशला समर्थ थी।

(१२१)

मनोज्ञ भ्रू कार्मुक[3] के समान थी,
कटाक्ष भी थे इषु-तुल्य तीक्ष्ण ही,
नृपाल के चचल-चित्त-वेध मे
नृपालिका भील-वधू-समा लसी।

(१२२)

अतद्र-चद्राभरणा मनोज्ञ थी
महा समुद्दीपित-मन्मथा तथा,
अनूप-तारा-तरला-नृपाल की
वधू लसी शारद[4]-शर्वरी-समा।

---

[1]विजली। [2]नाश। [3]शरासन। [4]शरदृऋतु की।

(१२३)

सु-ओष्ठ पीयूष-भरे हुये लसे,
सु-वाक्य पीयूष-भरे हुये लसे
सु-नेत्र पीयूष भरे हुये लसे,
सु-वक्ष पीयूष भरे हुये लसे।

(१२४)

स-तारिका, अभ्र-विहीन रात्रि-सी,
मनोरमा सुन्दरता-निकुंज-सी,
तमिस्र-ज्योत्स्ना-मय भूप-भामिनी
निकेत के प्रांगण[1] मे विराजती।

(१२५)

विलोकने को यदि अब्ज-योनि ने
दृगब्ज[2] दो जो महि-पाल को दिये,
नृपालिका के सुषमा-समूह को
न था वहाना कि न हो धरित्रि मे।

(१२६)

समस्त-सौन्दर्य्य-समावृतांगना
नृप-प्रिया सुन्दरताऽनभिज्ञ[3] थी,
बसी महीपाल-रसाल-चित्त मे
लसी स्वयं सुन्दरता-स्वरूपिणी।

---

[1]आँगन। [2]नेत्र-कमल। [3]अनजान।

(१२७)

नृपालिका के हँसते कपोल पै
प्रतीत होता लघु एक गर्त-सा
विचार उन्मज्जक[1]-से नृपाल के
न लौट पाये उस गाढ सिंधु-से

(१२८)

वसन्त-प्रत्यूष, शरद्दिनान्त से
सजे हुए सुन्दर अंग-अंग थे,
पिशंग[2] हेमन्त-समान मौलि पै
सहस्र-वर्षा-ऋतु-रूप-रंग थे।

(१२९)

बता रहा घूंघट था कि राजता
यथार्थ सौन्दर्य्य प्रगाढ कुंज मे
जहाँ जभी दो मन मेल खा गये
कि प्रेम-कर्ता वन प्रेमिका गया।

(१३०)

मनोरमा सुन्दरि कान्त-कुंज-सी
कपोत के कूजन से निकूजिता,
कि पक्ष-गुप्ता[3] कल-हंसिनी-समा
सुरांगना थी वह छद्म-वेपिणी।

---

[1]गोता खोर। [2]पीला। [3]जिसके पंख अदृश्य हो।

(१३१)

विभावरी[1] की वर कर्णिका-समा
मनोज्ञ थी चन्द्र-कपोल-रंजिनी,
स्वकीय-सौन्दर्य्य-प्रभूत कान्ति से
विमण्डिता थी वह भूप-भामिनी ।

(१३२)

शरीर था कुंकुम-पंक से रचा,
उरोज पै कंपित-हार-भार था ।
पदाब्ज में नूपुर हंस-शब्द के,
प्रिया[2] न होती त्रिशला महीप को ?

(१३३)

न हाथियों से, हय से, हिरण्य से,
न धाम से, या धन से, धरित्रि से,
नृपाल सिद्धार्थ समृद्धिवान थे
अखंड-सौभाग्यवती-स्वनारि से ।

(१३४)

मुखेन्दु से जो उडुराज-सी लसी,
सुमध्यमा जो मृगराज-सी लसी,
मनोरमा सो नृपराज की प्रिया
सु-चाल से थी गजराज-सी लसी ।

---

[1] रात्रि । [2] प्यारी ।

(१३५)

प्रदीप को अबर-वात[1] से मुदा
सदैव निर्वाण[2]-प्रदान-सक्त थी;
अवाप्त[3] थी भूपति को स्व-भाग्य से
विमोक्ष-मूला त्रिशला मनोरमा।

(१३६)

मनोज ने भी निज पुष्प-त्राण से
हृदेकता[4] दंपति को प्रदान की
कठोरता आयुध-तीक्ष्णता विना,
कुमार का सभव मार[5] ने किया।

(१३७)

नृपाल-जाया-उर-रग-मच पै
शृँगार-लीला सरसानुपत्ति[6] का
हुआ पटाक्षेप, अहो! नवाक पै
मनोज-से नाटक-सूत्रधार का।

(१३८)

वसन्त स आम्र-लता छुयी गयी,
फँसी कुरगी दृट-बाहु-जाल मे,
ग्रसा गया इन्दु तुरन्त राहु से
शराग्र[7] से मौक्तिक विद्ध हो गया।

---

[1]अचल की हवा। [2]बुझाना। [3]प्राप्त। [4]हृदय की एकता। [5]कामदेव। [6]उत्पत्ति। [7]बाण की नोक।

(१३९)

कपूर-सा दग्ध हुआ, तथापि जो
प्ररोहता प्राणि-शरीर मे सदा,
वही विलासी रति-रग-मंच का
त्रिलोक-जेता स्मर सूत्र-धार है।

[मालिनी]

(१४०)

जय रति-पति ! तेरी हो, तुझे सर्वदा ही
कुलगुरु अवलाएँ मानती केलि मे है,
पर, अब जिस प्राणी को, सखे ! जन्म देगा,
वह विजित[1] तुझे भी भूमि मे आ करेगा।

---

[1] पराजित।

दूसरा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

लखा जभी अच्युत-स्वर्ग[1]-इन्द्र की
समाप्ति को है अब आयु शीघ्र ही,
सु-धर्म-वज्री[2] षट् मास पूर्व ही
कुबेर से यो कहने लगा सुधी —

(२)

"प्रयाण, हे हे अलकेश! आशु ही
नृपाल-सिद्धार्थ-निवेश को करो,
वही, पुन भारत-क्षेत्र मे, सखे!
सु-जन्म होगा अब अच्युतेन्द्र का।

(३)

"नवीन तीर्थंकर वर्द्धमान के
सु-नाम से ले अवतार भूमि मे,
समुच्च दे केवल[3]-ज्ञान विश्व को
मुदा करेगे अति पूज्य मेदिनी।

---

[1]स्वर्ग विशेप। [2]इन्द्र। [3]पूर्ण ज्ञान, कैवल्य।

(४)

"अजस्र वर्षा वहु रत्न की करो।
अनेक आश्चर्य्य दिखा नरेश को,
नृपाल-जाया-त्रिशला-हृदब्धि में
भरो महा रत्न अभूत स्वप्न के।"

(५)

सु-धर्म-स्वर्गेन्द्र-निदेश से तथा
मनुष्य-धर्मा[1] द्रुत भूमि को चला।
स-रत्न धारा नृप-गेह-शृंग पै
अजस्र होने प्रति वार ही लगी।

(६)

कुबेर-संयोजित मेघ-मंडली
अनूप धारा नव-रत्न-राशि की
गजाग्रणी[2] के पृथुलाग्र[3]-शुंड-सी
विदेह में आकर वर्षने लगी।

(७)

सु-धर्म पुण्य-प्रद कल्पवृक्ष के
प्रभाव से रत्न-सुवर्ण-संयुता
अतीव वर्षा षट् मास लौं हुई
नृपेन्द्र-सिद्धार्थ-निवास-भूमि पै।

---

[1]कुबेर। [2]ऐरावत। [3]मोटा।

(८)

सु-काल मे वर्षण वारि-वाह का
सुवर्ण-वर्षा सब लोक मानता,
जिनेन्द्र का आगम, पुत्र-रत्न हो,
सुरत्न-वर्षा-सम गण्य क्यो न हो ?

(९)

सु-पर्व[1]-गंगा-जल-सिक्त व्योम से
प्रसून सद्याहृत[2] कल्प-वृक्ष के
गिरे, हुआ धाम सुरेन्द्र-धाम-सा
महा-महाराज विदेह-नाथ का।

(१०)

प्रदीप्त माणिक्य प्रतप्त स्वर्ण-से,
अभेद्य हीरे, दिन-नाथ-रश्मि-से,
तथैव वैदूर्य्य[3] सु-वाहु-रत्न[4] भी
मरक्त[5] नीलाश्मक[6] वर्षने लगे।

(११)

तदा गिरे पीतिम पद्मराग भी,
झड़ी महा रक्तिम विद्रुमावली[7],
अजस्र ही मौक्तिक श्रेणियाँ गिरी
सु-रत्न-गर्भा विलसी वसुन्धरा।

---

[1]स्वर्ग-स्थित। [2]ताजे लाये हुये। [3]लहसुनिया। [4]गोमेद। [5]मरकत। [6]नीलम। [7]मूँगा।

(१२)

निवेश सिद्धार्थ धराधिनाथ का
लगा धरा में ग्रह-चन्द्रमा अहो !
त्रिविष्टपाधिष्ठित[1] वर्द्धमान के
सु-भाग्य की संपति-शालिमा, लखो ।

(१३)

प्रभाव देखो यह जैन-धर्म का
लखो अहिंसामय-शक्ति-प्रेरणा,
विलोक लो केवल-ज्ञान-ऊर्जना[2]
निहार लो अर्चन वर्द्धमान का ।

[द्रुत विलंबित]

(१४)

इस प्रकार दयामय देव के
सुभग आगम की कर सूचना,
चल कुबेर पडे सुर-लोक को
गगन में सुर-राज[3] दिखा पड़े ।

---

[1]स्वर्ग-स्थित । [2]प्रकाण्डता । [3]इन्द्र (मेघ) ।

[वंशस्थ]

(१५)

अनूप आषाढ घनावली घनी
घिरी हुई थी अति मोद-दायिनी
निसर्ग - सपत्ति - विधायिनी मुदा
मनोज्ञ वर्षा-ऋतु वर्तमान थी।

(१६)

मनोज-हस्ती-सम वारि-वाह[1] थे,
बलाक[2]-श्रेणी सित दत-पक्ति थी,
विराजती अकुश-सी क्षण-प्रभा[3]
झडी बँधी मजु मदाम्बु-धार की।

(१७)

"सु-कामिनी जो अब मानिनी रही,
मनोज की है अपराधिनी वही"।
चतुर्दिशा दामिनि-व्याज व्योम मे
समा गयी काम-नृपाल-घोषणा।

(१८)

पयोद ने शुभ्र-सुधाशु-विंब को,
तमिस्र ने चड दिनेश-दीप्ति को।
नभस्थली ऋक्ष[4]-समूह खा गयी
अत हुआ रोदन-घोष सर्वग।

---

[1]मेघ। [2]बगुला। [3]बिजली। [4]तारागण।

(१९)

युगल के निद्रित काम-भाव को
जगा रहे थे उस काल मेघ यों
अतीव थी गर्जित-घोषणा-भरी
दशों दिशाएँ वह घोर-संयुता।

(२०)

निसर्ग सारा अति-अंबु-शैत्य में
सकम्प गीत-स्वर-ग्रस्त हो गया।
महान नीरन्ध्र-पयोद-व्याज में
विहाय में केवल ओड सो गया।

(२१)

कि निगलाभासित इन्द्र-गोपका
वियोगिनी के बहु रक्त-बाण-सी.
विराजती थी महि में इतस्तत
संयोगिनी-चित्रित-चैल-खंड-सी।

(२२)

अजस्र धारा गिरती पयोद से
कलापियों के गण नृत्य-लीन थे.
अली करेंगे रवका-समूह के
दिनान्त या काल समाप्ति दुःख की।

(२३)

पयोद जैसे निज दान-मान से
बना रहे मुग्ध मयूर-वृन्द को,
तथैव कदर्प स्व-मान-दान से
बना रहा उग्र युवा-समूह को।

(२४)

अनेक-रागान्वित,[1] स्थैर्य्य-हीन भी,
अजस्र दुष्प्राप्य, गुणादि-हीन भी,
नवागना के रस-सिक्त चित्त-सा
बना रहा प्रावृट्[2] इन्द्र-चाप को।

(२५)

लखो, महा धूसर धूलि से हुआ
प्रमोद देता किसको न खेल से,
स-पुत्रिका[3] के पट-सा विलोकिये,
मलीन है अबर वारि-वाह से।

(२६)

महान वर्षा यह हो रही, लखो,
सु-वर्ष[4] से वासर दीर्घ हो रहा,
सभी दिशा, नीर-तरग-युक्त है,
महीप क्यो नीरत-रग[5] हो नही।

---

[1]रग-युक्त। [2]वर्षा-ऋतु। [3]पुत्रवती। [4]वर्षा अथवा वर्ष। [5]काम-हीन।

(२७)

नरेन्द्र भी यौवन-युक्त है तथा
वधू महा-प्रौढ-पयोधरा लसी,
इसीलिए सगम-लालसान्विता
तरगिणी-सी त्रिशला लसी तभी ।

(२८)

कदम्ब मे सुगध-लसे प्रसून है,
प्रसून मे मजु मरद[1] सोहता,
मरद मे लुब्ध मिलिन्द-यूथ है,
मिलिन्द मे भी मदनानुभूति है ।

(२९)

प्रहृष्ट है कामुक चक्रवाक भी,
प्रकृष्ट नृत्यार्दित[2] है कपोत भी,
प्रकर्ष को है पिक प्राप्त हो रहे,
पिकी, कपोती, लख, चक्र-वालिका ।

(३०)

पयोद गर्जे, जल-धार भी गिरे,
तडिल्लता[3] अबर मे अशान्त हो,
महीप को क्या भय था, निकेत मे
प्रिया महा औषधि-सी विराजती ।

---

[1]पराग । [2]नृत्य से तरल चित्त । [3]बिजली ।

[द्रुत विलंबित]

(३१)

जिस प्रकार पयोधर अक मे
मचलती तडिता अनुरक्त हो,
उस प्रकार समीप नृपाल के
विलसती त्रिशला अति मुग्ध थी ।

[वंशस्थ]

(३२)

महीप बोले प्रिय चाटु-उक्ति[1] से
"प्रिये ! धनुर्धारिणि तू विशिष्ट है,
कलंब[2]-ज्या-हीन शरास[3] से, अहो !
बना रही है मन विद्ध मामकी ।

(३३)

"सु-दृष्टि कृष्णार्जुन[4] से प्रसक्त है,
तथापि जाती यह कर्ण[5]-पास ही,
प्रिये ! नही विश्वसनीय चाल है,
विलोचनो की चल-चित्त-वेधिनी ।

---

[1]खुशामद । [2]बाण । [3]धनुष । [4]काला और सफेद अथवा नाम विशेष ।
[5]कान या नाम विशेष ।

(३४)

"समेत है यद्यपि ओष्ठ-पत्र भी
सु-हास-पुष्पोद्‌गम[1] से, मनोरमे !
विलोकते ही तुझको, सुधानिधे !
विलोचनो को फल प्राप्त हो रहा।

(३५)

"नतांगि[2] ! तेरे युग-चक्षु कंज-से
सदैव है तत्पर चौर-कर्म मे,
न रात्रि को ही मन चित्त लूटते,
विपत्ति भी है दिन को न छोडते।

(३६)

'सरोज क्यो तू रखती स्व-कर्ण पै
रहस्य क्या है कल-भाषिणी, प्रिये !
न मैं हुआ किंचित रुष्ट, उत्तमे !
न आज पर्य्याप्त[3] अपांग-पात क्या ?

(३७)

"स्वदृष्टि कंजायत-लोचने! मुझे
प्रदान, वामे! करदो अवश्य ही,
सुना गया भूतल में जहाँ-तहाँ।
'विषस्य, रामे! विषमौषधं'"[4] अये!

---

[1] वसन्त। [2] नत अंग वाली। [3] काफी। [4] विष की औषधि विष है

(३८)

"विलोक के मार्दव[1], अंग-अंग का
प्रतीत होते मुझको, वरानने!
कठोर हैं अंशुक, अंशुमत्फला[2],
शशांक-लेखा, नव मालतीलता।

(३९)

"त्वदीय पाताल-समान नाभि है,
उरोज हैं उच्च नगाधिराज-से।
मनोज्ञ वेणी इस भाँति है लसी।
कलिन्दजा का विनिपात हो यथा।

(४०)

"सरोज से संभव[3] है सरोज का
सुना गया किंतु न दृष्टि-गम्य है;
परन्तु तेरे मुख-पुंडरीक में
विलोकता हूँ युग पारिजात मैं।

(४१)

"अनूप आवर्त[4] समान नाभि है,
मनोज्ञ हैं लोचन पारिजात-से,
तरंग-से हैं वलयादि[5] भासते,
मनोज की सुन्दर, अंबु-वापिके!

---

[1]मृदुता। [2]केसर, पराग। [3]जन्म। [4]भौंर। [5]चूड़ी आदि।

(४२)

"अपांग से अंकुरिता सदैव हो,
सु-वाक्य से पल्लविता बने सदा,
सुपुष्पिता मंजुल हास से रहे
फले मदिच्छा[1] तुझको विलोक के।

(४३)

"चुरा लिया है युग-मेरु-कान्ति, तो
उरोज का गोपन[2] नीति-युक्त है
परन्तु पाता विधु मान मौलि से
अतः छिपाना उसको अयोग्य है।

(४४)

"प्रिये! सदा पूर्णतया मनोहरा
कलंक-हीना छवि देख आस्य[3] की
स-लज्ज भागा विधु उच्च व्योम से
समुद्र में डूब मरा अधीर हो।

(४५)

"मनोज्ञ है आनन फुल्ल-पद्म-सा
प्रिये! जपा[4]-पुष्प-समान ओष्ठ है,
विलोचनों की छवि निद्र-कंज-सी
प्रसून के संचय-सा शरीर है।

---

[1]मेरी इच्छा। [2]छिपाना। [3]मुख। [4]गुड़हल का फूल।

(४६)

"सुमद, वामे! पद सौरि[1]-से लसे
सुकेश, भामे! शित[2] सैंहिकेय[3]-से,
तथैव है यौवन की समुच्चता
महान वक्षोज-गुरु-प्रताप-सी।

(४७)

"त्वदीय आलिंगन-हेतु, हे प्रिये!
हुआ न क्यों आज सहस्रबाहु[4] मैं,
विलोकने को छबि अंग-अंग की
बना न क्यों, देवि! सहस्र-चक्षु[5] मैं?

[द्रुत विलंबित]

(४८)

"मुख लसा उडुराज-समान ही
कटि बनी मृगराज-समा, अहो!
गति, प्रिये! गजराज-विडंबिनी
कर रही मुझको निज दास है।"

[वंशस्थ]

(४९)

महीप के काम-प्रसक्त वाक्य से
स-वेग तारल्य-युता हुई प्रिया,
वसन्त का स्पर्श हुआ कि आम्र का
शरीर सर्वांग-प्रफुल्ल हो गया।

---

[1]शनैश्चर। [2]काला। [3]राहु। [4]राजा विशेष। [5]इन्द्र।

(५०)

हुयी तभी सो भुज-पजर-स्थिता
समाकुला वाल-कुरग-शावकी,
नितान्त शुक्लाम्वरा[1] थी अभी-अभी
निरम्वरा[2] भूपति-भामिनी हुई ।

(५१)

विलोकना, सन्मुख भी न देखना,
निषेध भी सम्मति से प्रकाशना,
महीप को उत्तर मौन-मात्र से—
नवागना का नव केलि-मार्ग था ।

(५२)

उरोज थे उन्नत उग्र[3]-रूप-से,
स-हार-गगा-धर[4] थी मनोरमा,
बनी अहो ! मजुल चद्र-चूड[5] सी
निरम्वरा भामिनि भूमिपाल की ।

(५३)

स-हास आयी उस काल देवियाँ,
सुरेन्द्र मे प्रेरित, स्वर्ग से चली,
हुयी प्रविष्टा त्रिशला-वराग मे
अदृष्ट थी कामुक भूमि-पाल से ।

---

[1]श्वेतवस्त्र वाली । [2]वस्त्ररहित । [3]शकर । [4]श्वेतहार रूपी गगा । [5]चूडा चद्रमा लगाये हुये, शकर ।

(५४)

मुखाग्र मे कीर्ति धँसी प्रमोद से
उरु-स्थिता हो धृति शोभने लगी
प्रवेश ह्री ने मुख-मार्ग से किया
निवास श्री ने स्मर-धाम म लिया ।

(५५)

महान शोभामयि वर्ण-मातृका[1]
ललाट मे विष्ट हुई तुरत ही ,
सु-कुक्षि के शोधन मे महाशुभा
अनूप क्षीरोद-सुता[2] प्रवृत्त थी ।

(५६)

उसी घड़ी अच्युत-इन्द्र-जीव भी
प्रलब उल्का-सम स्वर्ग से चला,
सभा सुधर्मा-सद देव-वृन्द ने
स-शब्द सानद विराव[3] यो किया —

(५७)

"पवित्रतापूरित आर्य्य-देश है,
विदेह का भू-तल भाग्यवान है,
जहाँ महा-दारुण-कर्म-जाल के
कृतान्त[4] तीर्थंकर जन्म ले रहे ।"

---

[1]सरस्वती । [2]लक्ष्मी । [3]घोष । [4]नाशनेवाले ।

(५८)

पुरुरवा, गोचन, दक्ष देवता,
प्रभास, आभास्वर, सोम, हंस[1] भी
समूढ हो तुम्बुरु, नन्दि आदि ने
मुदा विदा दी जिनराज-जीव को।

(५९)

स-नृत्य थी सुन्दरि गीत-मोदिनी[2]
स-गान रंभादिक स्वर्ग-सुन्दरी,
जलेश, वारेश्वर, किन्नरेश भी
स-हर्ष, सानंद, स-मोद सर्व थे।

(६०)

तरंगिता मंजु सुरापगा हुई,
समीर भी नंदन-कुंज से चला,
चला जभी जीव महेन्द्र-लोक से
त्रिलोक-संपूजित वर्द्धमान का।

(६१)

जिनेन्द्र का जीव चला जभी, अहो!
ख-गोल में एक प्रकंप आगया,
भ-चक्र[3] का अस्थिर अक्ष[4] देखके
द्यु-लोक से ऋक्ष-निपात हो चला।

---

[1]देवताओं के नाम। [2]किन्नरी। [3]तारामंडल। [4]धुरा।

(६२)

प्रदीप्त उल्का जिस भाँति से गिरे
ख-गोल से भू-पर तीव्र वेग से,
यथैव ज्योतिर्झख[1] ऊर्ध्व-भाग से
समुद्र-द्वारा तल मे निविष्ट हो—

(६३)

हिला तभी आसन कर्म-देव का,
मिला न आश्वासन पाप-लोक को,
खिला महामानव-धर्म कंज-सा,
जिनेन्द्र-आत्मा च्युत[2] भूमि मे हुई ।

(६४)

निमेष[3] साधे, निज साँस बाँध के,
समस्त तारे लखते निपात थे,
सुरापगा-धार-समान जीव सो
गिरा सुधा-दीधिति[4]-शृंग पै जभी ।

(६५)

समा सका सो न निशाधिनाथ मे
प्रभेद[5] दे, भू-तल ओर को बढा,
गिरा शलाका-सम चंद्र-लोक से
हुआ तभी से शित[6] छिद्र इन्दु मे ।

---

[1]प्रकाश करनेवाली मछली । [2]निपतित । [3]पलक । [4]चद्रमा । [5]छिद्र । [6]काला ।

(६६)

मनोज्ञ-आषाढ-सिताभ्य　पक्षकी
पवित्र षष्ठी तिथि वर्तमान थी,
उदात्त नक्षत्र कलत्र[1] नाम　का
उगा हुआ था निशि-अंतरिक्षमें ।

(६७)

स-दर्प कादंबिनि[2] गर्जने　लगी
स-हास सौदामिनि तर्जने　लगी,
नृपाल-जाया रति-रंग-तृप्त　हो
धरित्रि-सी वर्षण वर्जने लगी ।

(६८)

विलोक सिद्धार्थ-पयोद-अंक　में
प्रकंप-पूर्णा त्रिशला क्षण-प्रभा,
कलत्र[3]-संपात हुआ　वनान्त मे
वरा वराकी नव-गर्भिता हुई ।

(६९)

गिरी त्रिस्रोता[4] हर-मौलि-अंक से
हुयी तमोभूत अपेत[5]-बंध भी,
तडिल्लता चंचल हो उठी, अहो !
कुमोदिनी-युग्म प्रकंपमान थे ।

---

[1]पूर्वाषाढ । [2]मेघ-माला । [3]जल । [4]गंगा । [5]मुक्त ।

(७०)

सुरापगा-धार गिरी सुमेरु पै
तमिस्र[1] तारा-गण वर्षने लगे,
अकप भृगावलि हो गयी, अहो!
प्रशान्त शम्पा[2]-लतिका-विलास था।

(७१)

मनोज के सगर मे मृगाक्षि के
उरोज भी पौरुष-पूर्ण हो गये,
प्रसून-वर्षा-सम पुष्प-चापकी
समतत[3] वर्षित स्वेद-राशि थी।

(७२)

उरोज निर्लेप बने मृगाक्षि के
सु-केश भी बधन-हीन हो गये,
मनोज्ञ काची[4] अति निर्गुणा[5] हुई
नवार्जिका[6]-सी त्रिशला प्रतीत थी।

(७३)

नितान्त नीरजन[7] नेत्र थे, तथा
विराग[8] से ओष्ठ हुये पवित्र थे,
महान निर्वेद[9] हुआ रतान्त मे
प्रशान्त साध्वी-सम थी नृपागना।

---

[1]अधकार। [2]बिजली। [3]चारो ओर। [4]करधनी। [5]टूट गई, गुणहीन। [6]नवीन-दीक्षित अर्जिका। [7]अजन-हीन। [8]रगहीनता। [9]विराग।

(७४)

पयोद-वर्षा अब हीन हो गयी
प्रचण्ड सौदामिनि लीन हो गयी,
दुरन्त षष्ठी तिथि अन्त हो गयी,
नरेश-जाया रति-विरत हो गयी।

(७५)

दिनान्त-सन्ध्या जिस भाँति पुष्प को
लपेटती है निज-ध्वान्त[1]-अंक में,
तथैव निद्रा त्रिशला ललाम को
समेटती थी निज शान्त क्रोड[2] में

(७६)

विलोकिये तो, किस भाँति सुप्त है!
नरेन्द्र-पत्नी श्लथ[3] हो रतान्त में
विलोचनों में सुख यों समा रहा
मिलिन्द ज्यों पंकज-कोष-बद्ध हो।

(७७)

प्रसून थे श्री-शयनांक[4] में पड़े
नितान्त ही म्लान कपोल के तले,
परन्तु शोभा-मयि भाल-वर्तिनी
सु-भाग्य लक्ष्मी अति ही स-चेत है।

---

[1]अन्धकार। [2]गोद। [3]शिथिल। [4]पलंग।

(७८)

अहो ! अहो ! ! निद्रित भूप-भामिनी
नवीन-सजीवन-बद्ध-श्वास है,
अकप व्यापा कि प्रसून-कुज मे
कि पूर्ण-निस्तब्ध[1] निसर्ग हो गया।

(७९)

"प्रशान्त सो, तू अति शान्त सो, प्रिये !
त्वदीय रक्षा करते सुपर्व[2] है।
समस्त सौभाग्य समुच्च स्वर्ग स
समृद्धि-वर्षा-रत है ललाट पै।

(८०)

"निशीथ ! तू कोमल हस्त से मुदा
विलासिनी को सहला[3] स-प्रेम ही,
सदैव तेरा अविकार नीद पै,
सदा फँसाता मन ध्वान्त-जाल मे।

(८१)

"प्रशान्त सोनी रह तू विलासिनी,
त्वदीय सौभाग्य-समीर प्रेम से
हिला रहा दिव्य भविष्य-वृक्ष है
अभी गिरेगे फल स्वप्न-रूप में।

---

[1]नि शब्द। [2]देवता। [3]धीरे-धीरे हाथ फेरना।

(८२)

सु-स्वप्न वर्षा-ऋतु के, अहो ! अहो !
कहो प्रिया के जल-जात कर्ण मे
"त्वदीय प्रेमी-नृप जागरूक[1] है
समीप तेरे अब पाहरु बने।"

(८३)

"अये कुरगायत-लोचने ! शुभे !
त्रिलोक-सौदर्य्य त्वदीय वित्त है,
गुणावली-शोभित अग-अग मे
अनग का, योषित ! अतरग तू।

(८४)

"प्रभा शरच्चन्द्र-मरीचि-तुल्य है,
विभा[2] शरत्कज-समान नेत्र की,
शुभा शरद्-हस-समा सु चाल है,
विशाल तेरी छवि वाम-लोचने !

(८५)

"अतीत-स्नेह-स्मृति-सी मनोरमा
पवित्र बाल-स्तुति-सी सु-कोमला[3],
सुमानसी तू नवनीत-पेलवा[4]
नताङ्गि ! कान्ते ! ललिते ! वरागने !

---

[1]जागृत। [2]प्रकाश। [3]कोमल। [4]मुलायम।

(८६)

"नरेश-भावोद्गत-नीर के लिए
प्रसुप्त तेरा मुख सिधु-सा बना,
नरेन्द्र की जीवन-ह्लादिनी[1]-गता
प्रफुल्ल है वृत्ति प्रफुल्ल-कज-सी।

(८७)

"समीर से सूक्ष्म विहग-नक्ष है,
कृपीट[2] है सूक्ष्म विहग-पक्ष से,
परन्तु सु-भ्रू अति भूरि-भाविनी
प्रसिद्ध है सूक्ष्म कृपीट-योनि[3] से।

(८८)

कहा गया है, प्रमदा-अपाग ने
गिरा दिया मानव को द्यु-लोक से,
परन्तु वामा-हृदयाब्ज ने, अहो!
सदा बनाया दिव[4]-तुल्य भूमि को।

(८९)

"प्रफुल्लता और पवित्रता, तथा
विशुद्धता, शाश्वत प्रेम-भावना,
कहे गये जो गुण स्वर्ग-लोक के
लखे गये वे ललना ललाम मे।

---

[1]तडाग। [2]धुआँ। [3]अग्नि। [4]स्वर्ग।

(९०)

'सुलक्षणा तू निज चाल-ढाल में,
सुदेवता तू निज अंग-ढंग में,
उषा-समा अंबर[1] से ढकी हुई
प्रकाश-सी अंबर[2] में विराजती।

(९१)

"यथैव तू सुन्दर त्यों स-मिष्ट है,
यथैव है मिष्ट, तथैव कोमला;
यथैव तू कोमल दिव्य भी तथा,
यथैव दिव्या उस भाँति देवता।

(९२)

'विरंचि की केवल तू न चातुरी,
वरंच है मानस-मूर्ति मामकी;
नतभ्रु! अर्धांगिनि तू बनी यथा
तथैव मेरा मृदु सर्व-स्वप्न तू।"

(९३)

नरेश, यों ही कुछ देर रात्रि में
प्रसुप्त-वामांग निहारते रहे,
प्रगाढ-तन्द्रा-वश मौलि-मध्यगा
अबंध-वेणी-छवि धारते[3] रहे।

---

[1]आकाश। [2]कपड़ा। [3]धारण करते।

(९४)

ललाट मे आगत स्वेद-बुन्द भी
नरेश हाथो परिहारते रहे,
हटा-हटा आनन से अजस्र ही
मिलिन्द की भीड निवारते रहे।

(९५)

मृगांक-से आनन पै पडी हुई
पयोद-माला-सम केश-राशि को
सहेजते[1] भूपति बार-बार यो
स-जृभ[2] शैथिल्य-समेत सो गये।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

मनुज जागृति मे रत-धर्म है,
विगत-कर्म तथैव सुषुप्ति[3] मे,
यदि कही सुख-स्वप्न प्रतीत हो
वह भविष्य-विधान[4]-समर्थ है।

---

[1]सम्हालते। [2]जम्हाई लेकर। [3]निद्रा। [4]निर्माण।

[वंशस्थ]

(१)

निशीथ[1] था, अबर ज्योति-हीन था,
तथैव, षष्ठी विधु अस्तमान था,
इसीलिए तारक-वृन्द मे तभी
प्रदीप्ति-आभा अधिकाधिका लसी।

(२)

गिरा, अहो! अंजन अंतरिक्ष से
हुई तमोलिप्त सभी वसुधरा,
अकप हो पश्चिम-दिक्कलत्र[2] के
लसे मुदा सपुट-कंज कर्ण में।

(३)

निशीथिनी लासिक[3]-योषिता-समा
समागता अंबर-रंगभूमि मे
मिलिन्द-जाया-मिष गान गा उठी
कुमोदिनी के सुम[4]-कुज में, अहो!

---

[1]मध्य रात्रि का समय। [2]दिशा-रूपी स्त्री। [3]नट। [4]पुष्प।

(४)

विकीर्ण[१] - पुष्पांजलि - तारकावली,
तमोमयी - यावनिका[२]-तटस्थिता,
विराजती थी उडु-मंडलामुखी
विलासिनी द्वैपद[३]-लासिनी निशा।

(५)

तमिस्र से श्यामल शैल हो गये,
अरण्य के पादप नील हो गये,
हुईं दिशाएँ शित[४] मेदिनी हुई
अभेद भू-अंबर-मध्य हो रहा।

(६)

निशीथ में लोचन व्यर्थ-से लसे,
यथा हुई संपति व्यर्थ सूम की,
हुये महापीडित जीव भूमि के
विषण्ण[५] हो ज्यों कु-नरेश की प्रजा।

(७)

तमिस्र में पंकज क्षीण हो चुके,
यथैव विद्या व्यसनी मनुष्य की,
मिलिन्द भी कातर दैन्य-युक्त थे,
गुणी यथा दुखित हो विदेश में।

---

[१]बिखरे हुये। [२]पर्दा। [३]एक प्रकार का नृत्य। [४]काली। [५]दुखी।

(८)

कि श्याम-हस्ती-[1]अजिनावृता मही,
कि एण[2]-नाभी-रस-लिपिता दिशा,
कि व्याप्त काली मसि[3] अतरिक्ष मे,
कि भूमि आवेष्टित है तमिस्र से ।

(९)

पयोद सारे गत हो गये, तथा
समीर की भी लहरी समाप्त थी,
रही अपेक्षा[4] इनकी न रात को
तमिस्र सर्वत्र विराजमान था ।

(१०)

विषाद-माता-सम तामसी निशा
मही-सुता पै झुक ही पड़ी, अहो !
प्रकीर्ण[5] काले कच अधकार के
हुये, समावेष्टन भूमि का किये ।

(११)

प्रकाश तारे करते न तेज का
वरच थे वे तम ही दिखा रहे,
द्यु-लोक की भी द्युति क्षीण हो चली,
त्रिलोक-भक्षी घन अधकार था ।

---

[1]त्वचा । [2]मृग । [3]रोशनाई । [4]आवश्यकता । [5]फैले हुये ।

(१२)

निशीथ-शोभा अवलोकनीय थी
लसी नभो-मडित तारकावली,
शनै. शनै पश्चिम दिग्विभाग मे
तमिस्र-आत्मा-गति मद हो चली ।

(१३)

निशीथ था पूरित अंधकार से
कि पूर्ण था दिव्य प्रदीप्ति से तदा
समागता जो अनजान देश से;
यथैव अव्यक्त[1] तथैव व्यक्त[2] भी ।

(१४)

तमिस्र-पूर्णा उस मध्य रात्रि मे
अमन्द एकान्त-प्रभा-प्रभास[3] में
पढे गये पाठ द्वितीय लोक के
भविष्य-गर्भ-स्थित योगिराज से ।

(१५)

नितान्त-सुप्ता-त्रिशला-मन-स्थिता
निशीथिनी की महिमा महान थी,
हुई समाकर्षित रात्रि-राग[4] से
तुरन्त ही जीवन-सिद्धि स्वप्न में ।

---

[1]छिपे हुये । [2]खुले हुये । [3]शोभा । [4]प्रेम ।

(१६)

"त्वदीय निद्रा, त्रिशले ! सुखान्त है,
कि स्वप्न की सस्थिति रग-मंच है;
जभी उठेगा पट मातृ-भाव का
सु-पात्र[1] होगा सुत विश्व-नाटच का।"

(१७)

किया जभी निस्वन[2] ऋक्ष-वृन्द ने
निशीथ के बालक, स्वप्न नाम के,
प्रबुद्ध होके त्रिशला-हृदब्ज मे
मिलिन्द-से गुजन-शील हो गये।

(१८)

सुषुप्ति के पूर्ण-प्रशान्त सिधु मे
तरी[3] चली स्वप्न-मयी सुहावनी,
सु-भाग्य तारा ध्रुव-सा अकंप था
सु-मत्र-आकीलित-ध्वान्त-व्योम मे।

(१९)

प्रशान्त निद्रामय देव-लोक के
सु-स्वप्न कैसे त्रिशले ! सुदृश्य हैं।
परन्तु तेरे अतिरिक्त भूप भी
न है अभी दर्शक रग-मंच के।

---

[1]नायक। [2]शब्द। [3]नाव।

(२०)

कुस्वप्न-दुस्स्वप्न समस्त विश्वके
सजे हुये हैं मन-पण्य[1]-वीथि में,
प्रभात-घटा अव तीन का वजा,
किन्हे करेगी क्रय, भूप-योषिते !

(२१)

प्रभात के स्वप्न प्रसिद्ध हेतु है,
समर्थ भावी-क्रम के विकास मे,
कभी-कभी स्वप्निल जीव जागता
स्व-भाग्य का आगम[2] देखते हुये ।

(२२)

प्रभात मे चित्रण आत्म-रूप का
निमीलिताक्षी[3] त्रिशला वना रही,
पली हुयी प्रागण-मध्य सारिका
सुना रही थी सुख-स्वप्न-गीतिका ।

(२३)

उडे-उड़े, पजर छोड, सारिके !
प्रवोध[4]-शाली निज स्वप्नपक्ष[5] पै,
कहे कहानी उस अतरिक्ष की
चली कभी थी जिस दिव्यलोक से ।

---

[1]वाजार । [2]आगमन । [3](निद्रा के पश्चात आलस्य से) आँखें वद किये हुये । [4]जागृत । [5]पख ।

(२४)

जिन्हे लखा जागृति मे न था कभी
विलोक ले वे सुख-स्वप्न सुप्ति मे,
प्रसन्न है पुत्र त्वदीय गर्भ मे,
स-हर्ष देता नव प्रेरणा तुझे।

(२५)

प्रशान्त-आत्मा-विधु के समतत
प्रसुप्ति के वारिद है घिरे हुये,
प्रदीप्ति-छाया-मय रग-रग के
महेन्द्र[1] के चाप-समान स्वप्न है।

(२६)

समाप्त-प्राया रजनी चली जभी,
प्रदीप-शोभा जलने लगी जभी,
उड़े तभी षोडश स्वप्न भृग-से
नरेन्द्र-जाया-हृदयारविन्द से।

(२७)

नितान्त-छाया-मय-भावि[2]-कुज मे
कुरग के शावक स्वप्न खेलते,
कुरग-नेत्री वन कज-लोचना
विलोकती क्रीडन आत्म-भाव का।

---

[1]इन्द्र। [2]होनेवाले।

(२८)

अत. सुनो वे सब स्वप्न जो लखे
नरेश-जाया त्रिशला ललाम ने
विलोक पाये न किसी कलत्र ने
नरेन्द्र की हो, अथवा सुरेन्द्र की ।

(२९)

लखा गया, एक अगाध सिंधु है,
गिरीन्द्र-मूलस्थ[1] अरण्य-कूल में,
प्रशान्त आवर्त-विहीन[1] नीर से
अगाध गाम्भीर्य्य-समेत व्यास है ।

(३०)

तुरन्त ही स्थैर्य्य[2]-समेत नीर में
इतस्तत. वुद्वुद वोलने लगे,
उठा जलस्तंभ[3] पयोधि-अंक से
नवागना-कंचुक-युक्त-वक्ष-सा ।

(३१)

पुनश्च कीलाल[4] विदार शीघ्र ही
उठा अहो ! श्वेत गजेन्द्र सिंधु से,
महेन्द्र-मातंग[5]-समान विक्रमी
दहाडता, शुंड प्रहारता हुआ ।

---

[1]जड़ । [2]स्थिरता । [3]जलका खंभा । [4]पानी । [5]ऐरावत ।

(३२)

पुन पटाक्षेप हुआ कि शीघ्र ही
वही महासागर भासने लगा।
अखड उच्छ्वास-भरा समीर था,
प्रचड निर्घोष[1]-भरा कमध[2] था।

(३३)

समुच्च थी उन्थित-वीचि भित्ति-सी,
अजस्र आलोडित ह्वेल-कृत्ति[3]-सी,
समीर-सचालित मेघ-यूथ-सी,
विभीत मानो बहु-हस्ति-सैन्य-सी।

(३४)

पुनश्च रत्नाकर-मध्य रत्न का
समूह उत्तुग हुआ सु-मेरु-सा
प्रदीप्त आभा नव सप्त-रग की
हुई समुत्सारित[4]-सी दिगन्त मे।

(३५)

उसी महा उज्वल रत्न-राशि पै
विशाल सिहासन भासने लगा,
सपर्ण[5] की आकृति के अनेकश.
लगे हुये सुन्दर हस्त-पाद थे।

---

[1]शब्द। [2]जल। [3]ह्वेलकी त्वचा। [4]फैली। [5]गरुड।

(३६)

पुनश्च सिहासन-मध्य राजती
सु-शोभिता क्षीरधि-कन्यका लसी
अनेक-वर्णाभरणा, मनोरमा,
सुपर्व-सेव्या, वसु-धाम[1] इन्दिरा ।

(३७)

किरीट-संयुक्त ललाट की प्रभा,
कपोल की कुडल-मडिता विभा,
मनोज्ञ केयूर[2] लसे सु-बाहु मे
स-कज शोभा कर की अनूप थी ।

(३८)

प्रसन्न था आनन विश्व-मातृ का,
प्रफुल्ल कजायत नेत्र-युग्म थे,
प्रकीर्ण होती जिनसे सुखावहा[3]
प्रदीप्ति त्रैलोक्य-जनानुमोदिनी ।

(३९)

लखा गया जो पहले गजेन्द्र था,
हुआ द्विवा, दो गज दीखने लगे,
द्वि-पार्श्व-वर्ती वन विश्व-मातृ के
घटस्थ पीयूष[4] उडेलने लगे ।

---

[1]धन । [2]बाजूबद । [3]सुखदायिनी । [4]अमृत या दुग्ध

(४०)

द्विशुंड से वे गज-युग्म स्नेह से
हुये सुधा-वर्षण मे निमग्न यों—
अजस्र धारा चतुरंगिणी गिरी
समुद्रजा[1] के अमिताभ शीर्ष पै ।

(४१)

पुनश्च देखा गगनस्थ चंद्रमा
अशेष राका-निशि-नाथ-तुल्य ही,
प्रकाशती सर्व-दिशा समुज्वला
अनन्त-तारागण-मंडिता-प्रभा ।

(४२)

मनोज्ञ क्रीडा-सर था कि लक्ष्मि का,
कि दिग्वधू-दर्पण ज्योति-धाम था,
मनोज का मंजुल आतपत्र[2] था,
कि देव-कासार[3]-सहस्र-पत्र था ।

(४३)

तुरन्त हो उत्थित भूमि-अंक से
फणीन्द्र सो उच्च निवेश-साल सा,
अनेक थे शीर्ष सुमेरु-शृंग से
अनन्त वातायन[4]-युक्त धाम था ।

---

[1]लक्ष्मी । [2]छतरी । [3]तडाग । [4]खिड़की ।

(४४)

शशाक के और फणीन्द्र-धाम के
सु-मध्य मे शोभित दो विमान थे,
कपोत के युग्म-समान दूर से,
समीप से दो गृह-तुल्य जो उड़े।

(४५)

मृगेन्द्र कूदा पहले विमान से
द्वितीय से भी वृष[1] भूमि पै गिरा
चला वलीवर्द[2] स-दूर्व भूमि को
स-शब्द गँलाट[3] अरण्य को गया।

(४६)

पुन गिरे दो स्रग[4] यान-युग्म से
अलात[5]-माला-सम चक्र-युक्त हो,
गिरे जभी भू पर शब्द-हीन वे
दिखा पड़े दो घट माल्यवान[6] थे।

(४७)

उसी घड़ी सूर्य्य उदीयमान हो
मनोज्ञ प्राची दिशि को प्रकाशता
दिखा पडा चक्रम-युक्त सामने
समस्त भू को करता प्रदीप्त था।

---

[1]बैल। [2]बैल। [3]सिंह। [4]माला। [5]चरखी-। [6]माला-युक्त।

(४८)

मरीचियाँ उत्थित सूर्य्य-देव की
बना रही थी अनुरजिता[१] धरा,
समस्त कासार, सरोज-पुज से
ढके हुये पीत पराग से, लसे ।

(४९)

महान आश्चर्य्य हुआ उन्हे जभी
प्रफुल्ल देखे सर मे सरोज, जो
निशा तथा वासर मे पृथक्-पृथक्
प्रकाशते है, पर सग-सग है ।

(५०)

पुन वही श्वेत गजेन्द्र पूर्व मे
लखा गया जो त्रिशला ललाम से
सरोज-सा, भृग-समान व्योम में,
उठा बृहत्काय, बना गिरीन्द्र-सा ।

(५१)

पुनश्च हो सो लघु अतरिक्ष मे
मिलिन्द-सा आ त्रिशला-समीप ही
नृपेन्द्र-जाया-मुख-कज मे धँसा
यथैव भावी[२]-सुत-सूचना, शुभा ।

---

[१]प्रसन्न । [२]होनेवाले ।

(५२)

तुरन्त वन्दी-जन गान गा उठे,
मृदग बीणा वहु वाजने बजे
समेत-आनद्ध[1]-सुषीर[2] झल्लरी
बजी, जभी पुण्य-प्रभात आ गया ।

(५३)

"उठो, उठो, देवि प्रभात हो गया
करो सभी सत्वर योग्य कार्य, वे
समृद्धि की जो तति[3] वश मे करें
अशेष कल्याण त्रिलोक में भरे ।

[द्रुतविलंबित]

(५४)

"जिस प्रकार, शुभे ! दिशि पूर्व के
उदर-मध्य दिनेश छिपा हुआ,
निहित है सुत यो तव कुक्षि[4] मे
सकल लोक-प्रकाशिनि ज्योति ले ।

(५५)

"अपगता[5] भव-यामिनि हो चली,
उदय है शुभ ज्ञान-प्रकाश का,
अलस-अबर त्याग उठो, उठो ,
जग गया जग मे जन धन्य सो ।"

---

[1]ताल देनेवाले बाजे, तबला, मृदग आदि । [2](सुषीर) मुहसे बजनेवाले बाजे । [3]प्रसार । [4]कोख, उदर । [5]व्यतीत ।

चौथा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

प्रभात आया, तम नष्ट हो चला,
त्विषा[1] लगी पूर्व दिशा प्रकाशने।
समीर डोला, सुमनावली हिली
प्रकाश फैला दश-दिग्विभाग मे।

(२)

प्रफुल्लता मे सुम-सद्यता सनी
इतस्तत खेचर[2] कूजने लगे,
महान रम्या कलविंग[3]-मडली
निवेश पै कूजन मे प्रसक्त थी।

(३)

विहग ऐसे बहु मोद मे सने
प्रभात मे पूर्ण प्रसन्न ज्यो हुये,
समीर भी अबर[4] की मलीनता
बुहारता था जल सीच ओस का।

---

[1]प्रकाश। [2]पक्षी। [3]गौरैय्या। [4]आकाश।

(४)

प्रभात निःश्वास सुगंध-युक्त है,
लसा हुआ फुल्ल-सरोज-वक्त्र[1] है,
यथा तिरस्कार-समेत मेघ की
हँसी उडाता मद-मत्त वायु हो।

(५)

उषा लसी थी अति मोद-दायिनी
गुलाब की प्रस्फुटिता-कली-समा,
निशीथ-अंधतम[2]-कोष से बढी
चढी मनोज्ञा प्रति-पत्र फुल्लता।

(६)

जगे, जगे, तू तितली प्रबुद्ध हो,
उडे, उडे, मार्ग प्रसून जोहते,
सुमेरु से स्वर्णिम-रश्मि सूर्य की
मरीचियाँ है वह रंग दे रही।

(७)

प्रलंब-काया रवि-रश्मियाँ चली
कि प्राच्य-तूणीर-विनिःसृता प्रभा,
चला त्रियामा[3]-तम-सैन्य शीघ्र ही
जगी धरा की विविधा अंगावली[4]।

---

[1]मुख। [2]घोर अंधकार। [3]रात्रि। [4]वृक्ष-समूह।

(८)

विलोकिये पादप-शीर्ष से उठा
दिनेश ले प्राण प्रकाश-पुंज के
विनाशता स्तोम[1] तमिस्र, साथ ही
प्रकाशता था सकला वसुंधरा।

(९)

नृपाल-वातायन-मध्य , झाँकता
कि मन्त्र-शास्त्रज्ञ-समान प्रात यो
सुषुप्ति-समोहन[2] था भगा रहा
समीर-फूत्कार-समान शब्द से।

(१०)

निवेश-छज्जो पर जा मयूरियाँ,
स-तार[3]-केका-रव छेडने लगी
प्रसून की पखडियाँ इतस्तत
गिरा रही थी बहु वुन्द ओस के।

(११)

न सूर्य्य आया, फिर भी दिगत के
पदार्थ थे रजित सप्त रंग के,
अदृष्ट ही स्पर्श प्रभाव से, लखो,
हुयी समस्ता अनुरजिता धरा।

---

[1]घना। [2]बेहोशी। [3]उच्च-शब्द-युक्त।

(१२)

उषा समायी प्रति गेह मे जभी
समुच्च था नि स्वन ताम्रचूड[1] का
प्रभात के शीतल सद्य[2] श्वास से
बने सभी मानव जागरूक थे।

(१३)

अनूप प्रत्यूष-विलोचनान्त से
कपोल पै लज्जित पुष्प के पडो
अनेक बूंदे हृदयानुमोदिनी
बडे-बडे मौक्तिक पारसीक[3] ज्यो।

(१४)

विलोकिये भूति[4] प्रभात-कालकी
उदीयमाना छवि सूर्य्य-देव की,
कि प्रात की दृष्टि पडी सुमेरु पै
महेश-नेत्रानल या कि मार पै।

(१५)

प्रभात के कोमल कप-युक्त-मे
पडे गुलाबी पद पूर्व-शीर्ष पै,
कि अशु के फाल[5] चले महीध्र पै
दिनेश यो मौक्तिक-बीज बो रहा।

---

[1]मुर्गा। ताजा[2]। [3]फारस देश के। [4]शोभा। [5]जमीन जोतने का लौह।

(१६)

प्रभात, मानो रुचि-पूर्ण भाव से,
नितान्त सज्ञा-मय चारु चाव से,
बुहारता लेकर अशु-[1]मार्जनी
[2]बिमोहिता तद्रित जीव-लोक की।

(१७)

किया सदा स्वागत फुल्ल कजने
प्रभात का जागृत नेत्र से मुदा
परन्तु राज्ञी—त्रिशला ललाम—की
प्रबुद्ध नेत्राकृति वे न पा सके।

(१८)

पुरा सुरो ने ब्रहु खोज की, तथा
सुवर्ण पाया कुछ हेम-कूट पै,
लखो, निहारो, इस प्रात-काल को—
मुखाब्ज चामीकर[3] से भरा हुआ।

(१९)

प्रभात पूर्वीय-हिमाद्रि-शृग पै
प्रकाशता है हिम की कणावली,
प्रबुद्ध मैना-मिष गान-युक्त हो
जगा रहा कानन की खगावली।

---

[1]बुहारी। [2]बेहोशी। [3]स्वर्ण।

(२०)

प्रभात ने स्वर्णिम द्वार खोल के
अहो! विदा ली नव सूर्य्य-रश्मि से,
किसी युवा ने जिस भाँति प्रात मे
तजी स्थली हो युवती-निवेश की।

(२१)

त्रिलोक-सपूजित सूर्य्य पूर्व के
विशाल वातायन से उगा नही,
कि रात्रि भागी सँग श्याम चैल[1] के
प्रभात आ पादप पै खडा हुआ।

(२२)

निशीथ के दीपक ज्योति-हीन है,
प्रभात के मौक्तिक शैत्य-युक्त है,
पतंग हो भास्वर[2] भूरि भ्राजता,
पता नही है खग[3]-राशि-चक्र का।

(२३)

प्रभात, सबोधित हो विहग से,
जगा रहा है सब जीव-जन्तु यो—
कि यात-[4]यामा निशि भी रुकी न, जो
प्रकाशती स्वप्निल सृष्टि की प्रभा।

---

[1]कपडा। [2]प्रकाशमान। [3]नक्षत्र। [4]गत-प्राया।

(२४)

निशा-मुषे[1]! स्वागत है उषे! तुझे
सुदेवते! सुन्दरि! लेश[2]-लज्जिते!
त्वदीय जो स्वर्णिम आशुगावली[3]
लगी अँगो मे दिन के स्फुलिंग-सी।

(२५)

त्वदीय जो अशुक[4] अंशु से बना
उषे! समाच्छादित अर्ध-व्योम मे,
हुआ, कि मोती उससे गिरे, पडे,
झडे अँगो पै बन ओस-बुन्द ही।

(२६)

सुगन्ध से युक्त समीर प्रात का
अगो-नगो के स्थल भेटता हुआ,
निवेश-वातायन से निविष्ट हो,
सु-राज्ञि-पर्य्यंक[5]-समीप है खडा।

(२७)

स-लज्ज-गड[6]-स्थल प्रात नम्र हो
समीप आके त्रिशला ललाम के,
उड़ेलता मौक्तिक ओस-बुन्द के,
बिखेरता म्लान प्रसून सेज के।

---

[1]रात्रि को चुरानेवाली। [2]किंचित्। [3]रश्मियां। [4]रेशमी कपडा। [5]पलग। [6]कपोल।

(२८)

प्रभात-वायु-प्लव[1] से उसी घडी
सुपुप्ति साम्राज्ञि-अपाग[2] से उडी
उडा यथा सिधु-पतत्रि[3] सिधु को
उडा यथा त्रास समूढ हास मे ।

(२९)

उषे ! निशा से दिन खीच ला, प्रिये !
मुदा जगा ज्योति अपूर्व पूर्व मे,
उगी पुरा जो भव-[4]अधकार से
स्व-जन्म आशा जब ले बनी शुभा ।

(३०)

लिये महाराज्ञि-कपोल-पाडुता
उषे ! हुयी आज उदीयमान तू,
जिनेंद्र आये त्रिशला-सुकुक्षि मे,
दिनेन्द्र तेरे शुभ गर्भ मे बसे ।

(३१)

उरोज का कुकुम शेष-प्राय था,
मनोज का विभ्रम शेष-प्राय था,
विराम-शेषा त्रिशला ललाम का
निशा-प्रभावाजन शेष-प्राय था ।

---

[1]झोका । [2]पलक । [3]पक्षी । [4]ससार ।

(३२)

चकोर के लोचन चद्रकान्त-से
स-बुन्द थे सिक्त निशान्त-ओस से,
परन्तु चित्तानल कोक[1]-लोक का
प्रतप्त होगा अब सूर्य्य-कान्त-सा ।

(३३)

दिनेश आता अब रश्मि-बिब से
प्रमोद देता त्रिशला ललाम को,
गिरा रहा है पर कर्ण-युग्म से
विभग-लक्ष्मी[2] जल-जात आशु ही ।

(३४)

दिनेश-सप्ताश्व विहाय मदुरा[3]
क्षुधार्त दूर्वा-दल खोजने लगे,
उठो, उठो, देवि न रात्रि शेष है
स-तार होता रव ताम्र-चूड[4] का ।

(३५)

सुरम्य प्राची सित-पिंग हो गयी,
यथा लसा पारद-गर्भ हेम हो,
समस्त नक्षत्र विलीयमान हैं,
नितान्त-उद्योग-विहीन भूप-से ।

---

[1]चकवा-चकई । [2]शोभा-हीन । [3]अस्तवल । [4]मुर्गा ।

(३६)

प्रदीप भी सम्प्रति ज्योति-हीन है,
यथा कुटुम्बाधिप रिक्त द्रव्य-से;
निशान्त में मौक्तिक शैत्य-युक्त है,
नृपाल के भृत्य 'गताधिकार-से।

(३७)

लतावली भी अब पाण्डु[2] हो रही
प्रलष्ट-गर्भा ललना-ललाम-सी,
प्रफुल्ल है कुंद महान मोद में
नरेश-द्वारा-कृत-मान-भृत्य-से।

(३८)

प्रभात में कोकिल गान-युक्त है
नृपाल के सन्मुख हो कवीन्द्र ज्यो
निशा हुई है इस भाँति निष्प्रभा
समृद्धि जैसे मति-हीन दुष्ट की।

(३९)

प्रसन्न है सम्प्रति अंतरिक्ष भी
प्रपन्न[3] ज्यो स्थानक-वासि साधु हो,
त्रिलोक से अब-तमिस्र यो हटा,
मुनीन्द्र के मानस से अघौघ[4] ज्यो।

---

[1]अधिकार-हीन। [2]पीला। [3]विनीत। [4]पाप-समूह।

[द्रुतविलंबित]

(४०)

इस प्रकार प्रभात-प्रभा-मयी
अवनि-अबर की छबि हो गयी,
सपदि[1] पूर्ण हुई दिन-नाथ की
सकल-लोक-प्रकाशन-प्रक्रिया ।

[वंशस्थ]

(४१)

उसी घड़ी श्री त्रिशला-निवेश के
समक्ष ही आकर एक निस्पृही
अनूप-नामा कवि छादसाग्रणी[2]
भुजा उठा गायन-युक्त यो हुआ –

(४२)

"सदा इसी भाँति जिनेन्द्र-सूर्य्य के
स-तेज होते क्षिति-अतरिक्ष मे,
विनष्ट होते खलु[3] रिकणादि[4] है,
अशिष्ट मिथ्या-मत के समान ही ।

---

[1]शीघ्र । [2]कविश्रेष्ठ ।
[3]निश्चय ही । [4]जुगनू ।

(४३)

"सदैव अर्हंत-स्वरूप अर्क के
प्रकाश होते भव-व्योम-अंक में,
महा कुलिंगी[1] खल-तस्करादि भी
प्रतीत होते द्रुत भागते हुये।

(४४)

"तथैव साम्राज्ञि! जिनेन्द्र-अर्य्यमा[2]
स्वकीय संबोधन-अंशु से मुदा
समस्त-प्राणी-भव के विनाश को
स्व-जन्म लेते तव देवि! कुक्षि में।

(४५)

"तथैव तीर्थंकर शुद्ध ज्ञान की
गभस्तियों[3] से कर धर्म-मार्ग को
प्रशस्त, पाते पद अंतरिक्ष में
सु-लोचने! लोचन लोक-लोक के।

(४६)

"तथैव तीर्थंकर वाक्य-अंशु से
सदा खिलाते मन-कंज साधु के,
तथैव तीर्थेश्वर शब्द-रश्मि से
विनाशते काम-कुमोद[4] संत के।

---

[1]कुलक्षणी। [2]सूर्य्य। [3]किरणें। [4]दु:ख या कुमुद।

(४७)

"अत उठो, हे त्रिशले! जगो-जगो,
विलासिनी-मंडल-मान-मर्दिनी !
प्रबुद्ध हो, सप्रति शुद्ध हो, शुभे!
कुरंग-नेत्रे! ललिते! मनोरमे!

(४८)

"प्रभात मे श्रावक-श्राविका सभी
अजस्र-सामायिक-दत्त-चित्त हो,
प्रसक्त हो कर्म-अरण्य-होम[१] मे,
सदा उठाते ध्रुव धर्म-धूम है।

(४९)

"अनेक सपूजित-पच-देवता
प्रवृत्त होते व्रत-जाप मे मुदा;
परन्तु जो चित्त-निरोध-लग्न, वे
निलीन होते सुख-सिधु ध्यान में।

(५०)

"तथैव जो धीर विमुक्ति-प्राप्ति के
लिए, न लाते ममता शरीर पै,
प्रवृत्त व्युत्सर्ग[२]-तपादि में वही
विनाशते कर्म, विमोक्ष साधते।

---

[१]जलाना। [२]त्याग।

(५१)

"अत उठो, हे त्रिशले! सुलोचने!
नरेन्द्र-जाये! पति-भक्ति-तत्परे!
प्रसक्त हो सत्वर धर्म-ध्यान में
पवित्र आदर्श-चरित्र आप हैं।"

(५२)

मनोरमा श्रोत्र[1]-सुखावहा तभी
हुई महा-मंगल-गीति, कामिनी
प्रबुद्ध होके, शयनांक छोड़के
उठी, लगी नित्य-निमित्त-कार्य्य में।

(५३)

विशाल-नेत्रा हरिणी-समान सो,
सुधांशु-आस्या रजनी-समान सो,
उठी चली यों त्रिशला मदालसा
सु-मंद-पादा करिणी-समान सो।

(५४)

समेत-कल्याणक नित्य की क्रिया
समाप्त सामायिक आदि ज्यों हुये,
निवृत्त हो सत्वर प्रातराश[2] से
गयी सभा-मध्य सखी-समेत सो।

---

[1]कान। [2]प्रभात का भोजन।

(५५)

स-हर्ष वामासन[1] भूप ने दिया
प्रसन्न-आस्या सुमुखी सु-भीरु को।
नृपेन्द्र-जाया कहने लगी तभी
लखे गये जो सुख-स्वप्न रात्रि मे—

(५६)

"सुनो प्रभो ! ब्रह्म-मुहूर्त मे मुदा
हुये मुझे षोडश स्वप्न आज ही,
न जान पाती उनका प्रभाव मैं,
अतीव आश्चर्य्य, महान खेद है।"

(५७)

तदा सुनाये सब स्वप्न देवि ने
सभासदो ने, धरणीश ने सुने।
परन्तु साश्चर्य्य समस्त मडली
रहस्य के भेदन[2] मे अशक्त थी।

(५८)

वही कही एक मुनीन्द्र सयमी
अदृष्ट आये उपदेश के लिए,
स-तर्क हो स्वप्न-कथा सुनी तथा
स-हर्ष बोले अति शान्त भाव से।

---

[1]बाईं ओर का आसन। [2]उद्घाटन।

(५९)

"नरेश, ये पोडश स्वप्न राज्ञि के
महान-गभीर-महत्त्व-पूर्ण हैं,
अत सुनो होकर सावधान, मैं
रहस्य-उद्भेदन-यत्न शील हूँ।

(६०)

"सुनो, महाराज्ञि-पवित्र-कुक्षि से
जिनेन्द्र तीर्थंकर जन्म ले रहे,
सुगध-सयुक्त-शरीरवान व
प्रसार देंगे जिन-धर्म की सुधा।

(६१)

"स्व-धर्म के स्यंदन-हेत् सारथी
प्ररोह[1] देंगे मुनि-साधु-वृन्द को,
प्रसिद्ध कर्मान्तक हो त्रिलोक में
प्रवृत्त होंगे मद-मोह-नाश मे।

(६२)

"सदैव कल्याणकरी विवृत्ति[2] से
प्रचारकारी वन ज्ञान-ध्यान के,
अवाप्त होगी महि-क्षेम-कारिणी
प्रसिद्ध नौ केवल-लब्धियाँ उन्हें।

---

[1]उन्नति। [2]आचरण।

(६३)

"सु-देह होगी शुभ-लक्षणान्विता,
सु-कीर्ति होगी विधु-सी समुज्वला,
सु-वह्नि[1] से सम्यक-दर्शनादि की
प्रदाह देगे वह कर्म-काष्ठ को।

(६४)

"महा-महाराज-पदाधिकार से
बना वशीभूत नरेश-चक्र को,
सदा सुखी जीवन दे उसे सुधी
समृद्धि देगे अपवर्ग[2] की मुदा।

(६५)

"नरेन्द्र ! अभ्यागत देव हो चुके,
जिनेन्द्र स्वर्गागित राज्ञि ! हो चुके,
विदेह मे हर्षित राग-रंग हो
निवेश मे मजु बधाइयाँ बजे।"

(६६)

नृपाल बोले, "ध्वनि आपकी, मुने !
लगी मुझे डिंडिम[3]-घोष-सी, अहो !
कि जो भरी कोटिक धन्यवाद से
समस्त-आगामि-मनुष्य-लोक के।"

---

[1]अग्नि। [2]मुक्ति। [3]नगाडा।

(६७)

सहर्ष बोली त्रिशला सु-वाक्य यों—
"मुने! मुझे हो तुम इन्द्र-चाप सो,
दिनान्त-आभा-अनुराग-रक्त जो,
निशान्त-शोभा-भव-भाग्य-सक्त जो।"

(६८)

तुरन्त अंतर्हित हो गये सुधी,
मुनीन्द्र-माला महि-अंक में गिरी
समस्त भू को चरमाभिधान[1] जो,
मनुष्यता को अति दिव्य दान था।

(६९)

सभासदों ने सब एक साथ ही
कहा "महा वासर धन्य आज का,
पवित्र है, और महत्त्व-पूर्ण है
विचित्र है, सस्मरणीय है, प्रभो!

(७०)

समस्त भू के इतिहास में कभी
न वृत्त ऐसा हमने सुना गया;
कि उच्च होगी इतनी मनुष्यता,
कि धन्य होगी इस भाँति से धरा!"

---

[1]सर्वश्रेष्ठ नामवाला।

(७१)

सभासदों की कर पुष्टि व्योम में
सु-पर्व आनंद-विभोर हो उठे;
प्रसक्त[1] होने सब देवता लगे
सु-गर्भ-कल्याणक-उत्सवादि मे।

(७२)

सुपर्व[2] ज्योतिर्विद सिंह-नाद से,
अमर्त्य[2] तार-स्वर शंखनाद से,
अस्वप्न[2] विद्याधर शृंग-नाद से
महा-समारोह-प्रमोद मे लगे।

(७३)

हुई स-गर्भा त्रिशला विमुग्ध थी
पतिव्रता - मंडल - चद्र - चूलिका,
महान मातृत्व-ममत्व-उत्स[3]-सा
छिपा नही मानस मे नतभ्रु[4] के।

(७४)

फली सदिच्छा सुत-जन्म की तभी
चली सभा से त्रिशला स्व-गेह को।
स-गान डोली सँग दिक्कुमारियाँ
बनी सखी सुन्दरि छद्म[5]-वेषिणी।

---

[1]सलग्न। [2]देवता। [3]सोता। [4]स्त्री। [5]गुप्तवेषवाली।

[द्रुतविलंबित]

(७५)

उमड़ आनँद के रस से उठा
हृदय विस्तृत-व्यास शराव[1]-सा,
न जिसमे अभितृप्ति-समा सकी,
सरित दुग्धवती वहने लगी।

---

[1] कटोरा।

पाँचवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

हुआ अगस्त्योदय अंतरिक्ष मे
तडाग-कालुष्य मिटा शनै. शनै,
रतान्तिका की जघन-स्थली-समा
खुली लसी सुन्दर ह्लादिनी[1]-तटी ।

(२)

शशाक के उज्वल रश्मि-वारि स
महान-सिक्ता शरदगना[2], लखो,
प्रसन्न हो अबर आज धो रही
पयोद-माला-मल-युक्त था कि जो।

(३)

तडाग नीलाम्वर के तले मुदा
शशाक[3]-से हस विराजमान थे,
इतस्तत तारक के समान ही
महा प्रफुल्ला कुमुदावली लसी ।

---

[1]नदी या तालाब । [2]शरद्ऋतु रूपी स्त्री । [3]चद्रमा ।

(४)

तडाग थे स्वच्छ तडाग हो यथा,
सरोज थे फुल्ल सरोज हो यथा,
शशांक था मंजु शशांक हो यथा,
प्रसन्नता-पूर्ण शरत्स्वभाव था।

(५)

हुई प्रसन्नेन्दु-मुखी सितांबरा[1],
उपस्थिता उत्पल-पत्र-लोचना,
स-पंकजा नीलिम-व्योम-शोभिता
स-हंस-वाल[2]-व्यजना शरद्-वधू।

(६)

सरोज-नेत्रा, सित-चंद्र-आनना,
महान रम्या, तरु-वृन्द-सौख्यदा,
शुभांबरा, गुप्त-पयोधर-प्रभा,
लसी नवोढा-सम शारदी निशा।

(७)

धरित्रि में थी परिणाम-रम्यता,
तथा अनौद्धत्य[3] नदी-समूह में,
अ-पंकता थी जल में विराजती,
शरत्प्रभा से महि पूर्ण-काम थी।

---

[1]श्वेतवस्त्रवाली। [2]बालक या केश, पंख। [3]मंदता।

(८)

दिनान्त मे भूपति एकदा यदा
मुदा पधारे त्रिशला-निवेश मे
लखी स्व-जाया सखि-वृन्द-सयुता
विराजती प्रांगण मे स-मोद थी।

(९)

दिनान्त मे शान्त-स्वभाव सयमी
सभी सुखाते श्रम-वारि वार[1] का—
निवेश की ओर चले कि शीघ्र ही
चली स्व-छाया बन अग्रवर्तिनी।

(१०)

प्रशान्ति आयी सब ओर भूमि मे,
हुई समस्ता महि शब्द-हीन-सी,
परन्तु तो भी कल-नाद उत्स का
सुना सभी ने लघु शैल था जहाँ।

(११)

निवृत्त हो भूपति राज-काज से
प्रसन्न लौटे गृह-अतरग मे,
जहाँ स-गर्भा त्रिशला मदालसा[2]
विराजती थी सखि-मध्य-वर्तिनी।

---

[1]दिन । [2]मद से आलसयुक्त ।

(१२)

दिनान्त का काल महान शान्त है,
मुहूर्त कोई इस-सा न कान्त है,
विहंग जाते सब स्वीय नीड[1]को
सरोज सोते निज नेत्र मूंद के।

(१३)

पवित्र साध्वी-सम साँझ की घड़ी
प्रशान्त होती जब साँस साध के,
अडोल होती अलि[2]-नेत्र-पुत्तली
जिनेन्द्र-पूजा-रत अर्जिका-समा।

(१४)

प्रसून होते सब ओस-सिक्त हैं,
अतंद्र नक्षत्र-समेत व्योम भी,
तरंग होती अति नील रंग की,
विराजता पाटल[3] वर्ण पत्र पै।

(१५)

नृपाल आये गृह में दिनेश-से
निशेश-तुल्या त्रिशला उठी तभी,
सभी सखी तारक-मंडली-समा
स-भक्ति सेवा-रचना-प्रसक्त थी।

---

[1]घोंसला। [2]भ्रमर। [3]लाल।

(१६)

तुरन्त ही पूर्व-दिशाभिरंजिनी
अपूर्व राका दिशि पूर्व मे उगी,
स्व-कान्ति से जो करती तिरस्कृता
विलासिनी-मजु-कपोल-कान्तता ।

(१७)

उसी घड़ी इन्दु-गभस्ति[1]-मालिका
गिरी सुधा-धौत[2] निवेश-भित्ति पै
प्रकीर्ण हो सुन्दर शोभने लगी,
समृद्धियाँ ज्यो अवदात[3]-वश मे ।

(१८)

समुद्र का उज्ज्वल फेन ले शशी
दिगगना-अगन लीपने लगा,
विनाश देने कुमुदादि[4]को कि सो
चला हनूमान-समान व्योम मे ।

(१९)

तडाग मे आयत अंतरिक्ष के
शशांक शोभा-मय राज-हंस-सा
विराजते सपुटिताब्ज-ऋक्ष भी
अमंद-आनन्द-प्रदान-दक्ष थे ।

---

[1]किरण । [2]चूने से पुता हुआ । [3]श्वेत । [4]कुमुद या राक्षस-विशेष जिसे हनुमानने लका में मारा था ।

(२०)

निविष्ट हो पंजर मे मराल ज्यो
हिमाद्रि के कदर मे यथा नखी
प्रवीर - ज्यों कुंजर के वरंड[1] मे
तथा शशी अवर मे प्रविष्ट था ।

(२१)

कि व्योम-वापी[2]-सित-पुंडरीक था,
कि मार-शाणोपल[3] ही विराजता
कि रात्रि-वामा-कर-रिक्त गेंद-सा
शशाक कूदा नभ-वप्र[4] मे तदा ।

(२२)

नभोल्लता-कुंज-उपागता तथा
प्रमोद - पर्य्याकुल - तारका - मयी
निशागना की तम-पूर्ण कचुकी
स-वेग खीची कर से शशाक ने ।

(२३)

मयूख[5]-लेखा प्रथमा शशांक की,
कि रात्रि की कुंकुम-चर्चिका लसी[6],
प्रवाल की पक्ति अशोक-व्योम की,
कि मार की थी मणि-कुंत-वल्लरी ।

---

[1]हौदा । [2]कूप । [3]शान रखने का पत्थर । [4]मैदान । [5]किरण । [6]तेरनी, दूर्वं

(२४)

त्रिलोक के मोहक अधकार को
सदैव, नित्य-प्रति, खा रहा शशी,
इसीलिए उज्ज्वल-देह-कुक्षि[1] मे
समूढ अधतम है, विलोकिये।

(२५)

कि प्रेम से तामस-केश-पाश को
मरीचि की अगुलि से हटा-हटा,
विलोकिये, सपुटिताब्ज-लोचना
निशा-वधू का मुख चूमता शशी।

(२६)

विलासिनी-आनन कुज-कुज मे
विलोकता है हँसता हुआ शशी,
प्रसारता है कर जाल-जाल मे
मनोज्ञता की वह भीख माँगता।

(२७)

महीध्र[2] कैलाश हुये समस्त है
सभी पलाशी[3] सित-आतपत्र[4] है,
समुद्र सारे पय-सिधु से लसे,
कु-पक भी है दधि-तुल्य राजता।

---

[1]कोख। [2]पर्वत। [3]वृक्ष। [4]छतरी।

१०

(२८)

शशांक प्रत्येक निशान्तराल[१] में
स्वकीय गाथा कहता धरित्रि से,
कि जन्म कैसे इस पिंड का हुआ,
कि कीर्ति कैसे बढ़ती सु-कर्म से।

(२९)

प्रपूर्ण राकेश नभो-निकुंज से
विकीर्ण[२] जोत्स्ना करता समंतत,
समीर मानो गति से शनैः शनैः
प्रगाढ़ निद्रावश हो रहा, अहो!

(३०)

शशांक-जोत्स्ना चलती सुमेरु से
महीरुहों से छनती धरित्रि में,
नदी बहाती तल में प्रकाश की,
बढ़ा रही प्रेम निशा ललाम से।

(३१)

उगा नहीं चंद्र, समूढ़ प्रेम है,
न चाँदनी, केवल प्रेम-भावना,
न ऋक्ष है, उज्वल प्रेम-पात्र है,
अतः हुआ स्नेह-प्रचार विश्व में।

---

[१]रात्रि के मध्य का समय। [२]प्रसरित।

(३२)

मृदग-वीणा-मुरचग आदि से
मनोज्ञता है अनुराग-रग मे,
अशब्द सौदर्य्य भरा हुआ, प्रिये !
अनूप दो-अक्षर-शब्द प्रेम मे।

(३३)

मनुष्य गभीर, प्रवीर, धीर भी,
बँधे हुये है सब प्रेम-पाश मे,
रहस्य सारे इस एक राग[1] मे
भरे न जाने सुख के कि दु ख के।

(३४)

यही कही भू-तल-मध्य जीव दो
विलोकते आपस का सु-मार्ग है,
यही कही जीवन-मध्य प्राण दो
अजस्र लालायित भेट के लिए।

(३५)

हरी लता स्वर्णिम पुष्प से मुदा
प्रगाढ मैत्री करती यही कही,
समाप्त होती जब दु ख-यामिनी
अवश्य आता दिन सौख्य-पूर्ण है ।

[1]गीत, विषय, प्रवृत्ति ।

(३६)

यही कहीं है मृदु भेद[1] प्राण का,
सभी बँधे हैं अनुराग-नाग में,
अदृश्य अज्ञात अकल्प भावना
भरी हुयी है इस प्रेम-सद्म में।

(३७)

प्रिये! न पूछो मुझसे कि प्रेम क्या,
प्रकाश क्या वस्तु, कहो दिनेश से।
कि शैत्य[2] क्या ज्ञात करो निशेश से
कि पूँछ लो यामिनि से तमिस्र क्या?

(३८)

कहो कि क्या है सुख स्वर्ग में प्रिये!
कहो कि क्या सुगन्धता प्रसून में?
कि कौन-सी है मृदुता कपोल में
कि कौन लावण्य दृगम्बु-बुद में।

(३९)

अनन्त भाण्डार प्रगाढ़ प्रेम का
न रिक्त होता इस भूमि में कभी,
यही महा [3]मार्दव-युक्त भावना,
यही महा उत्तम राज-भोग है।

---

[1]रहस्य। [2]शीतलता। [3]मृदुता।

(४०)

कथा नही है कथनीय प्रेम की,
जहाँ नही दो मन एक भाव के,
जहाँ न हो दो हृदय-स्थली, जिन्हे
मिला रहा एक अभग[1] मार्ग हो ।

(४१)

पयोद-स ज्योति-विहीन व्योम मे,
सु-पल्लवो-से तम-पूर्ण कुज मे,
विचार प्रेमी-जन के अदृष्ट, पै
समेत है विद्युत के प्रकप के ।

(४२)

महान इच्छा, त्रिशले ! मदीय है
कि मै तुम्हारा अनुराग यो बनूँ—
लगा रहूँ यावक[2]-तुल्य पाँव मे,
रचा रहूँ आनन-मध्य पान-सा ।

(४३)

गुलाब-सा है अनुराग, हे प्रिये !
उगा कभी जो मधु[3]-रात्रि मे कही,
प्रपूर्ण सगीत-समान सौख्य से
स-प्रेम गाया मधु-रात्रि मे गया ।

---

[1]अव्यर्थ । [2]महावर । [3]वसत ।

(४४)

प्रभात से हीन प्रभा वसत की,
पयोद से हीन दिशा निदाघ की,
सु-प्रेम से हीन मनुष्य-कल्पना
न की गयी है कवि से, मनोरमे !

(४५)

प्रसून-अगाग-धृता, मनोहरा,
सुगध - निश्वास - समीर - सयुता
वसन्त की मैं ऋतु था विलोकता
परन्तु तू देख पडी, मनोरमे !

(४६)

विलोकती है पहले स्व-नेत्र से
सदैव योपा निज प्रेम-पात्र को,
परन्तु पीछे अवलोकती जहाँ
वहाँ वही भाजन[1] प्रेम का उसे।

(४७)

पुरध्रि ! स्वर्गीय प्रतीति प्रीति है,
सुपर्व-रागाग्नि[2]-प्रदत्त अर्चि[3]-सी,
कि जो उठाती मन को अवश्य ही
त्रिलोक के ऊपर स्वीय शक्ति से।

---

[1]पात्र। [2]प्रेम-अग्नि। [3]किरण।

(४८)

चकोर को क्यों अनुराग चन्द्र से ?
प्रदीप से प्रीति पतंग को तथा ?
नितान्त ही कारण खोजना वृथा,
न प्रेम इच्छा-सुत है मनुष्य का।

(४९)

दिनेश ही एक न तेजवान है,
निसर्ग का प्रेम द्वितीय सूर्य्य है,
जहाँ कहीं सो निज रश्मि डालता
वहीं प्रभा-युक्त प्रमोद राजता।

(५०)

नतभ्रु![1] मैं तो दिनरात खोजता
प्रभाव क्या है तव प्रेम का, प्रिये !
कि अन्य-वामा-स्मित से मनोहरा
प्रतीत होती यह दृष्टि-भंगिमा।

(५१)

समस्त-आनंद-विचार-भाव जो
विकार लाते बहु प्राणि-पुंज में,
अजस्र वे आश्रित प्रेम-भूप के
अमात्य[2]-से, सेनप-से, नियोज्य[3]-से।

---

[1]नत हो भ्रू जिसकी। [2]मंत्री। [3]सेवक।

(५२)

मनुष्य-अस्तित्व, निसर्ग-योजना,
समस्त ब्रह्माड-निरूपणा तथा
अजस्र ही निर्भर प्रेम पै कि जो
सु-पुष्ट प्राग्वश[1] अशेष-सृष्टि का।

(५३)

अदृष्ट है उद्गम देश प्रेम का
कि जो अनाहूत[2] पधारता, प्रिये !
परन्तु जाता वह है न चित्त से,
चला गया सो न कदापि प्रेम है।

(५४)

समष्ट[3] दो प्राण, समस्त चित्त दो
समूढ दो अक्षर प्रेम नाम के
सदा वनाते सुख दु ख को, प्रिये !
महीतलाधिष्ठित स्वर्ग हो रहा।

(५५)

विभेद[4] खोता सब प्राणि-मात्र का
कहा गया दृष्टि-विहीन प्रेम है।
न भेद है श्रावक या श्व-पाक में
न देव या दानव में विभिन्नता।

---

[1]वडेर, वह वाँस जो आधार के लिये दो छप्परो के वीच में रखा जाता
[2]विना वुलाये। [3]एक-साथ। [4]पृथकत्व।

(५६)

मनुष्य के चचल रक्त-बुन्द से
सदा समुद्वेलित सिधु न्यून है,
स-प्रेम सिंधुस्थ नगाधिराज[1] के
समतत उच्छल-नीर विश्व है।

(५७)

मनोज ज्यो दग्ध हुआ शिवाक्ष से
कि खिन्न दौडी रति खोजती हुई,
विषण्ण रोती वदती पुकारती
"कहो कहाँ कामुक, काम, कार्मुकी[2]।"

(५८)

प्रमत्तता, सम्यक-ज्ञान-हीनता,
अदीनता, उद्धतता, विकल्पता[3],
प्रसिद्ध जो दुर्गुण यातुधान मे
वही बने सद्गुण प्रेम-पात्र के।

(५९)

चकोर राकापति को विलोकता
कि पूछता है निरपाग[4] नेत्र से,
"सदैव जो मै लखता तुझे, सखे!
कहो तुम्हारा इसमे अलाभ क्या?"

---

[1]हिमालय। [2]धनुर्धारी कामदेव। [3]सदिग्धता। [4]अपलक।

(६०)

न राज्य पाता नृप युद्ध के विना,
न दाम पाता श्रम के विना श्रमी,
अवाप्त जो है इनको विलव में
तुरन्त सो सुन्दरि ! प्रेम-प्राप्त है।

(६१)

"प्रभो ! मुझे प्रेम सदैव आप से
रहा पदो मे परमानुराग ही,
वनी रहूँ मै भवदीय चेटकी[1]
मुझे सदा प्रेम त्वदीय प्रेम से।

(६२)

न एक वामागिनि ही, वरच मै
त्वदीय स्वामिन् ! हृदयस्थिता सदा,
त्वदीय जो स्नेह, मदीप प्रेम जो
हुये सदा सगमवान पुत्र म।

(६३)

"विलोचनो को प्रिय ज्योति-तुल्य जो,
हृदिस्थ है हे प्रभु ! रक्त-तुल्य जो,
सुपुत्र, साकार स्वरूप प्रेमका,
हुआ जिसे प्राप्त वही कृतार्थ है।"

---

[1]नौकरानी।

(६४)

"प्रिये ! तुम्हारी उठती सु-कुक्षि पै,
तथैव पीले पड़ते कपोल पै,
बिछा रही है मम लालसा सुधा,
खिला रही प्रेम-प्रकाश-पुष्प है।

(६५)

"मदीय आनद-स्वरूपिणी, प्रिये !
मदीय आमोद-विधायिनी, प्रिये !
मदीय तू सद्गति, हे मनस्विनी,
मदीय तू हृद्गति रक्त-वाहिनी।

(६६)

"अये ! सुशीले ! सरसे ! सुलोचने !
मुझे सदा शैत्यद ओस-बुद-सी,
विलोकता हूँ तुझको यथा-यथा
मदीय आशा बढ़ती तथा-तथा।

(६७)

"बड़ा पुराना इतिहास प्रेम का,
नवीन होता प्रति-याम है वही,
चिरतनी[1] जो सरि[2] प्रीति-मार्ग की
मदीय सो मानस-भूमिका-गता।

---

[1]सनातनी। [2]नदी, प्रवाह।

(६८)

"तरग है जो अनुराग सिंधु की
उमग जो यौवन-अतरंग की
वही जगज्जीवन-सार-ग्राहिणी
वनी महा सुन्दरता त्वदीय है।

(६९)

"न प्रेम आतक-भयादि-युक्त है,
न प्रेम आतंक-भयादि-मुक्त है,
स्वरूप ऐसा कुछ देवि ! प्रेम का
समान सर्वत्र अदेव-देव मे।

(७०)

"सदैव इच्छामय प्रेम-तत्त्व है,
सदैव ईहामय[1] प्रेम-भावना,
विजेय लका-सम द्वेष-दुर्ग है,
अजेय है यद्यपि स्नेह-शृखला।

(७१)

"नितान्त-एकान्त-विहार-शील दो
महान प्रेमी-जन वैठते जभी,
अवश्य उद्वेग-प्रदायिनी उन्हे
व्यथा-कथा, पागल-प्रेम की प्रथा।

---

[1]इच्छा।

(७२)

"मुझे मिली जीवन के प्रभात मे
अमूल्य भिक्षा प्रभु पार्श्वनाथ से,
मनोरमे ! जीवन की, सु-प्रेम की,
तथा तुम्हारे हृदयानुराग की।

(७३)

"अगाध रत्नाकर[1] के तले, प्रिये !
समुच्च प्रालेय-गिरीन्द्र[2]-शृंग पै,
प्रशस्त पाता पथ प्रेम सर्वदा
न प्रीति-सस्थान कहाँ त्रिलोक मे ?

(७४)

"न प्रेम की प्राथमिकानुभूति से
पवित्र कोई अधिका विभूति है।
विचित्र है मानस के विहग की
त्वरामयी[3] अंशुक[4]-पक्ष-विक्रिया।

(७५)

रहस्य-पूर्णा मम जीव-वल्लकी[5]
अदृष्ट-हस्तोद्धृत झंकृता हुई,
समस्त-रागाधिप प्रेम-राग की
छिडी प्रिये ! 'सा' सुत की त्रिसप्तकी[6]।"

---

[1]समुद्र। [2]हिमालय। [3]शीघ्रता-युक्त। [4]किरणो से बनी हुई, रेशम-सी हलकी और सुनहले रगवाली। [5]वीणा। [6]तीसरे सप्तक की।

(७६)

"प्रभो ! मुझे हो किस भाँति चाहते ?"
"यथैव निःश्रेयस चाहते सुधी"
"प्रिये ! मुझे हो किस भाँति चाहती।"
"यथैव साध्वी पद पार्श्व-नाथ के।

(७७)

"यथा कली ने तरु-वृन्त[1]-सस्थिता
प्रकाश पाया, कि खिली प्रसन्न हो,
तथैव मेरी सुत-कामना, प्रभो !
प्रफुल्ल है प्रेम-रसानुषिक्त हो।"

(७८)

"प्रिये ! तुम्हारे मृदुभाव सर्वथा
सुदूर भू से रजनीश-तुल्य है,
लसा तुम्हरा मन प्रेम-पूर्ण जो
नितान्त मेरे मन के समीप है।

(७९)

"अरण्य, केदार[2], निकुज, वापिका,
नगेश, तारेश, दिनेश आदि से
अवाप्त आनद समस्त भूमि से
मिला तुम्हारे अभिराम[3] प्रेम मे।

---

[1]टहनी। [2]खेत। [3]सुन्दर।

(८०)

"न प्रेम प्रालेय[1], विदाह भी यही,
न प्रेम राकेश, दिनेश भी यही,
न प्रेम है रुग्ण, अमर्त्य भी यही,
न हार ही, प्रत्युत[2] प्रेम जीत है।

(८१)

"मनुष्य जो प्रेम-निमित्त दुःख के
समुद्र को पार करे वही, प्रिये!
वरेण्य है मानुष से न जो कभी
व्यतीत स-स्नेह स्व-आयु को करे।

(८२)

"न वीरता, बुद्धि-बलिष्ठता, तथा,
न रूप-सौन्दर्य्य, गुणानुवृत्ति भी,
बने कभी भाजन[3] स्नेह-तत्त्व के,
नितान्त अज्ञात प्रवृत्ति प्रेम की।

(८३)

प्रिये! यथा सूर्य्य-मुखी प्रसून की,
प्रवृत्ति सूर्य्याभिमुखी प्रसिद्ध है।
तथैव मेरे मन की नियुक्ति भी
हुई तुम्हारे वदनारविन्द में।

---

[1]बर्फ। [2]अपितु। [3]पात्र।

(८४)

"वहित्र-सा जीवन मध्य-रात्रि के
पडा रहा चद्र-विहीन सिधु में,
मिला न दिग्सूचक-[1]यत्र सा जभी
प्रिये ! तुम्हारा कर, मै दुखी रहा।"

(८५)

"प्रकाश से शून्य अपार व्योम मे
उडी, वनी आश्रित-एक-पक्ष मै
मिला नही, नाथ ! द्वितीय पक्ष-सा
जभी तुम्हारा कर मे दुखी रही।"

(८६)

"प्रताप से, जीवन से, प्रकाश से
प्रिये ! सदा हो अति प्रेयसी मुझे,
वहा कभी था अनुराग-उत्स जो
प्रवाह-संयुक्त अजस्र[2] हो रहा।"

(८७)

"समीर-सी प्रेम-तरग है, प्रभो !
न ज्ञात है आगम-निर्गम-स्थली,
अवाध[3] तो भी वहता प्रवाह है
नसो-नसो में मुझ प्रेम-प्राण के।"

---

[1]कम्पास। [2]निरतर। [3]अप्रतिहत-गति।

(८८)

"दुरूह है प्रेम-रहस्य जानना,
न ज्ञात है कंटक है कि डक है,
कि अग्नि हो वाडव की, मनोरमे !
सुखा रही जीवन[1] विश्व-सिंधु का।"

(८९)

प्रभो ! मुझे ज्ञात कदापि है नहीं,
सुधाक्त[2] है प्रेम, विषाक्त वस्तु या,
अनादि-माधुर्य्य-भरी विभूति है,
अनन्त-काकोल[3]-मयी प्रसूति है।

(९०)

"समक्ष स्वर्गीय—प्रभाव प्रेम के
समृद्धि सारी अति तुच्छ भूमि की,
न प्रेम के है अतिरिक्त प्रेम का
सुना गया मूल्य समस्त विश्व मे।

(९१)

"समस्त वृन्दारक[4] देव-धाम के
विनाश दे अतर देश-काल का,
सुरेश दो प्रेमिक-प्रेमिका मुदा
हिला-मिला दे, मम प्रार्थना प्रभो !"

---

[1]जल। [2]अमृत-सिंचित। [3]विष। [4]देवता।

(९२)

"प्रिये ! सदा सुन्दर प्रेम-भावना
प्रपूर्णता है नियमानुवृत्ति[1] की,
कि द्वैत का तात्त्विक मूल-रूप है
कि एकता है युग चित्त-वृत्ति की।"

(९३)

"विभावना[2] ईश-प्रदत्त प्रेम की
कही अनैसर्गिक सपदा गयी,
विलोचनो के, प्रभु ! एक वृन्द में
प्रतीत सारी वसुधा लखी गयी।"

(९४)

"रहस्य से पूर्ण सहानुभूति है,
कि प्रेमियो के मन की प्रसूति[4] है,
प्रिये ! मुझे प्रेम-स्वरूप भासता
सु-लभ्य भू मे विभु की विभूति है।"

(९५)

"प्रभो ! सदा यौवन-पूर्ण प्रेम की
वसन्त-शोभा जग मे बनी रहे।"
"प्रिये ! सदा प्रेम-रसावलबिनी
लगी झडी प्रावृट्[5] की घनी रहे।"

---

[1]नियम पालने की प्रवृत्ति। [2]द्वैतभाव। [3]विचार। [4]जन्म। [5]वर्षा।

(९६)

"सभी प्रजा शासित प्रेम-भूप से
विलोकिये मर्त्य-अमर्त्य-लोक मे,
कि प्रेम ही, हे प्रभु! देव-लोक है,
कि स्वर्ग ही अन्य स्वरूप प्रेम का।"

(९७)

"प्रिये! सदा प्रीति प्रशान्ति-काल की
बनी स-शक्ता परिवादिनी[1]-समा,
अशान्ति मे भ्रान्ति-हयाधिरोहिणी[2]
सँवारती आकृति क्रान्ति-कारिणी।"

(९८)

"न प्रेम को नाथ! प्रतीति अन्य की,
स्वकीय जिह्वा करता प्रयुक्त है,
प्रवृत्त हो दो दृग बातचीत में
कदापि मध्यस्थ न चाहिए उन्हे।"

(९९)

"कराह प्रेमी हृदयाब्धि से, प्रिये!
उठी, बनी पुण्य-पयोद-मडली।
तथैव प्रेमाग्नि क्षण-प्रभा बनी,
दृगम्बु-वृन्दावलि धार-सी गिरी।

---

[1]वीणा। [2]भ्रान्ति के घोड़े पर सवार।

(१००)

"अगाध गभीर समुद्र-सी, प्रभो !
उदारता दिव्य त्वदीय चित्त की
प्रदत्त होती मुझको यथा-यथा,
अतीव अक्षय्य[1] लगी तथा-तथा।"

(१०१)

"प्रिये ! तुम्हारी रसना रसाल से
मदीय आत्मा मुझको पुकारती,
स-प्रेम संगीत-समान सौख्यदा
प्रतीत राका-शशि के तले मुझे।"

(१०२)

"प्रभात के आगम पै तुम्हें, प्रभो !
न मैं तजूँगी निज नेत्र से कभी,
मिलिन्द के प्रेम-प्रभाव से मुदा
सरोजिनी[2] ज्यों बनती कुमोदिनी[3]।

(१०३)

दिनेश के आशुग[4] अंशु-तुल्य है
विचार ही अग्रग[5] दूत प्रेम के,
इसीलिए स्नेह-पतत्र[6]-संग में
समीर की भाव-तरंग जा रही।"

---

[1]न क्षीण होनेवाली। [2]दिवा-विकासी कमल। [3]निशा-विकासी कमल। [4]घोड़ा। [5]अग्रगामी। [6]पंख।

(१०४)

"प्रिये ! तुम्हारी मुख-तुल्यता लिये
निशेश शोभा नभ की बढा रहा,
समस्त तारे मधु-पात्र से लसे
इसीलिए है निशि सर्व-वल्लभा[1] ।"

(१०५)

"न आयुधो से विच्छिन्न प्रेम है,
न दग्ध होता वह अग्नि से कभी,
नही जल-प्लावन के अधीन, जो
अभेद्य आत्मा, अविछेद्य प्रेम है ।"

(१०६)

"पतग हो, या कि प्रदीप हूँ, प्रिये !
पतग हूँ, या कि प्रदीप हो तुम्ही,
रसाल हूँ, या पिक हो, न ज्ञात है,
रसाल हो या पिक हूँ, रहस्य है ।"

(१०७)

"प्रतीत होती मुझको अहो, प्रभो !
सनातनी पद्धति प्रेम-तत्त्व की
न भान होता कुछ देश-काल का
न आदि की भीति, न अत की भिया[2] ।"

---

[1]सर्व-प्रिया, वेश्या । [2]भय ।

(१०८)

"विहग हो सो उड जाय व्योम में,
उदार दानी कुछ और दान दे,
परन्तु मेरे कुछ-और पास में
न प्रेम के है अतिरिक्त, हे प्रिये !"

(१०९)

"सरोज-सा है यदि प्रेम, हे प्रभो !
भवान[1] भी तो दल-तुल्य दिव्य है,
वराटकी[2] जीवन-सगिनी बनी
बढा रही हूँ शरदम्बु-सपदा ।"

(११०)

"न लोभ होता सुर-धाम मे, प्रिये !
न लाभ होता नरकाधिवास मे,
न काम होता जिस प्रेम-लोक मे
प्रसिद्ध भू मे अपवर्ग[3] है वही ।"

(१११)

"प्रभो ! महाकोमल-चित्त प्रेम को
न मान देते वह लोग मूर्ख है,
बलिष्ठ ऐसा यह है कि सर्वदा
प्रसह्य[4] पाता जय बुद्धिमान पै ।"

---

[1]आप । [2]बेचारी । [3]मुक्ति । [4]बरबस ।

(११२)

"प्रिये! हमारा यह प्रेम सर्वदा
स-हर्ष आलिगन आपका करे,
त्वदीय आशा पुलकावली गहे,
मदीय वक्षस्थल अश्रु से भरे।

(११३)

"न ओष्ठ-पत्र-स्थित प्रेमकी कथा,
महा निगूढा,[1] हृदय-स्थिता तथा,
अतीत के गह्वर मे छिपी, प्रिये !
जहाँ न जाता इतिहास कीर्ति का।"

(११४)

"प्रभो ! बहे प्रेम-प्रवाह सर्वदा
बना रहे स्नेह-स्वभाव विश्व मे,
निशेश चाहे बन नील नष्ट हो
दिनेश चाहे तम-खड ही बने।"

(११५)

"प्रिये ! समस्तोत्तम[2] प्रेम-भाव है,
प्रवीरता ही करता प्रदान है,
—न वीर पाते गति युद्ध-भूमि मे,
सती न पाती पति अन्य जन्म मे।"

---

[1]गुप्त। [2]सर्वश्रेष्ठ।

(११६)

"सदैव वासन्तिकता-प्रपूर्ण जो,
अवाप्त[1] हेमन्त न प्रेम-वर्ष को,
प्रभो ! इसी के युग अग्र-दूत है,
मिलिन्द प्रेमी, मृदु प्रेमिका पिकी।"

(११७)

"प्रियाल से प्रेम हुआ मुझे, प्रिये !
तदा रहा केवल पारिजात से,
परन्तु पीछे उस पुष्प से हुआ
छुवा जिसे तो फलवान हो गया।"

(११८)

"प्रभो ! निराकार त्वदीय प्रेम यो
प्रसून साकार-चरित्र हो गया,
कि कदली[2]-युक्त वनी सरोजिनी
मुखाग्र पै पीत पराग छा गया।"

(११९)

स-प्रेम पारस्परिका कथा चली
अतीव सगर्भित विश्व-तत्त्व से,
तथैव सम्राज्ञि-सहानुभूति मे
हुयी पिशगा शरदिन्दु-चद्रिका।

---

[1]प्राप्त। [2]लता।

(१२०)

हुई प्रतीची शशि-गर्भ-संयुता,
तथैव प्राची रवि-अर्भ[1]-गर्भिता,
बनी निशा पूत-प्रभात-गुर्विणी[2]
समस्त भू गर्भ-कठोरता-मयी ।

(१२१)

प्रभात मे छोड सरोजिनी यथा
मिलिन्द होता बहु मुग्ध[1] सर्वथा,
तथैव सिद्धार्थ विमुग्ध-चित्त हो
चले मुदा श्रीत्रिशला-निवेश से ।

[द्रुतविलंबित]

(१२२)

यह प्रसग पुरातन प्रेम का
समय-लब्धि[3] जिसे न बता सकी,
प्रकट आज हुआ जिस यत्न से
वह अकथ्य कथा, कहना वृथा ।

---

[1]बालक । [2]गर्भवती । [3]शुभ-समय, सुयोग ।

छठा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

प्रभात से ही सब दिक्कुमारियाँ
विशुद्ध-वस्त्रा वन छद्म-वेषिणी,
लगी सपर्य्या[1] करने चतुर्दिशा
जिनेन्द्र-गर्भा त्रिशला ललाम की।

(२)

कुमारियाँ वे सखि-रूपिणी सभी
अजस्र सेवा करती स-प्रेम थी,
सँगीत गाती बहु गीत[2]-मोदिनी
विमुग्ध स्वर्गाधिप-वामलोचना[3]।

(३)

सभी उपादान[4] पवित्र स्नान के
समस्त पूजा-व्यवधान[5] आदि ले
खडी हुई थी त्रिशला-समीप ही
सखी-स्वरूपा त्रिदिवेश[6]-कामिनी।

---

[1]पूजा, सेवा। [2]किन्नरियाँ। [3]शची अथवा देवियाँ। [4]साधन। [5]प्रबन्ध। [6]इन्द्र।

(४)

सजा रही मंगल-द्रव्य सामने
लजा रही थी [1]नति को नतांगि के,
मिलिन्द-जाया-सम लोटती हुयी
विनम्रता से त्रिशला-पदाब्ज में।

(५)

विमुग्ध-चित्ता करती अजस्र थीं
समस्त आयोजन-भोजनादि के,
अनेक देवी शयनाक-सज्जिनी
बिछा रही थीं नव पुष्प प्रेम से।

(६)

अनेक धोतीं पद-पद्म भक्ति से,
अनेक आभूषण साजती रहीं,
अनेक थीं अंशुक[2] से सँवारती,
अनेक ताम्बूल प्रसाधती[3] रहीं।

(७)

प्रकीर्ण था जो वहु पुष्प-धूलि से
निवेश का प्रांगण थीं बुहारती
अनेक-योषा मृग-भेद नीर से
निवास-आसिंचन-दत्त-चित्त थीं।

---

[1]भुकावट। [2]रेशमी वस्त्र। [3]बनाती।

(८)

दिवौकसी[१] रत्न-प्रदीप-दर्शिनी
विभावरी-आगम मे विमुग्ध थी,
अनेक लेके असि गर्भ-रक्षिणी
निवेश-रक्षा करती अजस्र थी।

(९)

विलोक हेमन्त प्रवृत्त लोक मे
जिनेन्द्र-गर्भ-स्थिति-रक्षणार्थ ही,
तुरंत सप्ताशुग[२] पै सवार हो
दिनेश ने भी धनु हस्त[३] मे लिया।

(१०)

दरिद्र-आशा-सम शीत-यामिनी
बढ़ी कि तृष्णा अनुदार-चित्तकी,
कि द्रौपदी के पट-सी प्रलबिनी
सुदीर्घ हैमन्तिक [४]शर्वरी हुयी।

(११)

हिमोज्वला, दन्त-कचोज्वला महा,
तथैव मद-द्युति-ताराकाकृती
शनै शनै हो द्विगुणी[५]-कलेवरा
नितान्त वृद्धा-सम यामिनी चली।

---

[१]देवियाँ। [२]सात घोडे। [३]हेमन्त में सूर्य्य धनु राशि में प्रविष्ट होता है।
[४]निशा। [५]टूट कर दोहरी हो गई।

(१२)

नवांगना की रति-कामना-समा,
तथैव लज्जा इव प्रौढ़ नारि की,
कि स्वैरिणी[1] की नियमानुवृत्ति-सी
अदृश्य होती क्षण में दिन-प्रभा।

(१३)

स-भास यो कोरक[2] कुंद-पुष्प के
विराजते पल्लव-अंतरिक्ष में,
यथैव हो शीत-विभीत तारिका
छिपी हुयी कुंद-लता-समूह में।

(१४)

दिनेश का आतप मंद हो गया,
निशेश की भी अति शीत चंद्रिका,
महान व्यापा शिशिरर्तु-शैत्य यों
न अग्नि में तेज रहा विशेष था।

(१५)

निवेश-वातायन-काच-पीठ पै
तुषार[3] के चित्र विचित्र हो गये;
सुकर्णिका[4] के, सरसीरुहादि के
अनूप थे गुच्छक-से लसे हुये।

---

[1]पुंश्चली स्त्री। [2]कलियाँ। [3]पाला। [4]गुलाब।

(१६)

तुषार पै वज्र-कपाट बंद हो,
निवार दे पुष्ट छतें समीर को,
हिमांशु वातायन से न आ सके,
प्रयत्न-सा था त्रिशला-निवेश मे ।

(१७)

प्रभात मे पादप-शृग पै गिरे,
बने रहे, पुष्कल[1] ओस-बुद यो,
रहे दिखाते निज सप्त-रग वे
नरेन्द्र-जाया जबलौ जगे नही ।

(१८)

प्रसून सोते हिम-खड के तले
वसन्त के स्वप्न विलोकते हुये,
पड़ी प्रसुप्ता त्रिशला-निवेश में
लिए हुये एक रहस्य गर्भ मे ।

(१९)

अतद्र-नि श्वास प्रभात जानके
तुषार के शायक छोड़ने लगी,
विदारती है हृद[2] शीत-रात्रि का
निशान्त-कारी रवि की शरावली ।

---

[1]अधिक सख्या में । [2]हृदय ।

(२०)

"जगो, जगो, देवि ! प्रभात हो गया,
उषा समाप्ता हुई निशान्त पै,
जगज्जयी केवल एक काल है,
अतः उठो, हे समयानुवर्तिनी[1] !"

(२१)

सुनी सु-वाणी सखि-वृन्द की मुदा
जगी मनोज्ञा त्रिशला प्रभात में
परन्तु शीतर्तु उषा-समान ही
अनल्प[2] लेटी निज तल्प[3] में रही।

(२२)

कठोर-गर्भा त्रिशला विलोक के
स-प्रेम आयीं सखियाँ समस्त,
मनोज्ञ प्रश्नोत्तर से स-मोद वे
लगी रचाने बहलाव चित्त का।

(२३)

दिवौकसी, सुन्दरि, छद्मवेषिणी
स-तर्क शंका करने लगी सभी,
जिनेन्द्र-गर्भ-स्थित है कि अन्यथा
लगी परीक्षा करने अनेकशः।

---

[1]समय के अनुसार अनुवर्तन करनेवाली। [2]बड़ी देर। [3]झूला।

(२४)

"विरक्त हो कामुक जो महान है,
निरीह[1] है, इच्छुक है अवश्य जो,
नरेन्द्र-जाये! त्रिशले! शुभे! अहो!
कहो परात्मा प्रभु कौन विश्व मे?।

(२५)

"अदृष्ट है कौन, तथापि दृष्ट है?
स्वभाव से निर्मल कौन लोक मे?
महार्ह[2] है किन्तु न देव-रूप है?
दयार्द्र है, देह-दया-विहीन है?"

(२६)

नृपालिका ने सब प्रश्न यो सुने,
दिया नही उत्तर व्यक्त रूप से,
परन्तु होके नत-लोचना मुदा
विलोकने कुक्षि लगी मदालसा।

(२७)

"अगाध-संसार-पयोधि मे, शुभे!
न डूबने दे वह पोत[3] कौन है?
नृपाल-भार्य्ये! कृपया बताइए,—
"वहित्र[4] अर्हत—पदारविन्द का"।

---

[1]इच्छा-हीन। [2]महँगा, दुर्लभ। [3]नाव। [4]जहाज़।

(२८)

"नृपेन्द्र-जाये ! गुरु कौन श्रेष्ठ है ?"
"त्रिलोक-आलोक-प्रदातृ, देवियो !
जिनेन्द्र-नामा गुरु मैं उदात्त जो
प्रसिद्ध जो 'कर्म-कृतान्त'[1] नाम से।'

(२९)

"सु-शास्त्र प्रामाणिक कौन श्रेष्ठ है ?"
"सदा सभी संसृति[2] का हितेच्छु जो,
तथैव अष्टादश-दोष-हीन जो
सदा अहिंसा करता प्रचार हो।'

(३०)

"विनाशिनी जो भव-मृत्यु-दुःख की
कहो सुधा-सी वह वस्तु कौन है ?"
"जिनेन्द्र के आनन-कञ्ज-कोष से
मनोरमा निःसृत[3] वाक्य की सुधा।"

(३१)

"कहो, शुभे ! ध्येय पदार्थ क्या यहाँ ?"
"महान कल्याणक[4] जैन-शास्त्र ही।'
"कहो, कहो भू-पर गेय वस्तु क्या ?"
"जिनेन्द्र-द्वारा-परिगीत[5] तत्त्व ही।"

---

[1]यम। [2]संसार। [3]निकली हुई। [4]कल्याण करनेवाले। [5]कहा हुआ।

(३२)

"दुरन्त भू मे अदुरन्त कार्य क्या ?"
"स्व-कर्म-नाशी जिन-धर्म-धारणा ।"
"त्रिलोक मे सग्रहणीय वस्तु क्या ?"
"स्व-धर्म जो नाशक कर्म-लोक का ।"

(३३)

"कहो, अये ! लक्षण जैन-धर्म के,"
"तपादि-रत्न-त्रय-शील स-क्षमा,
दशाग जो युक्त अणु-व्रतादि[1] से
प्रसिद्ध भू मे अति सौम्य सर्वदा ।"

(३४)

"नरेन्द्र-वामे ! फल धर्म का कहो,"
"त्रिलोक-स्वामित्व, जिनेन्द्र-सपदा,"
"समुच्च धर्मी जन कौन विश्व मे ?"
"प्रशान्त, सशुद्ध, गताभिमान जो ।"

(३५)

"कहो कि क्या पाप धारित्रि मे, शुभे ?"
"असत्यता, क्रोध, कषाय आदि ही ।"
"कहो कि क्या है फल पापका, अये !"
"मनुष्य की दुर्गति, रोग, मृत्यु ही ।"

---

[1]अणु-व्रत, महाव्रत आदि ।

(३६)

"अघी कहेगे किस निन्द्य जीव को ?"
"कषाय-क्रोधादिक-युक्त जो कि हो,"
"कुबुद्धि, लोभी जन कौन है, शुभे !"
"सदैव जो द्रव्य लहे अधर्म की।"

(३७)

"अये ! कहो कौन विचारवान है ?"
"अदोष-शास्त्रज्ञ, सदैव सयमी।"
"धरित्रि मे कौन सु-धर्म-वान है ?"
जिनेन्द्र-सेवा-व्रत प्रेय[1] हो जिसे।"

(३८)

"नृपाल-जाये ! पर-लोक-पान्थ का
कहो कि क्या सबल[2] है यथार्थत ?"
"जिनेन्द्र-पूजा, उपवास, दान के
समेत शील, व्रत, सयमादि ही।"

(३९)

"स्वकीय ले जन्म कहो कि भूमि मे
हुआ फलीभूत मनुष्य कौन-सा ?"
"जिसे मिला उत्तम भेद-ज्ञान, जो
कि पा सका सत्तम[3] मोक्ष-सपदा।"

---

[1]प्रीति-पात्र। [2]मार्ग का भोजन। [3]उत्तम, सर्व-श्रेष्ठ।

(४०)

"कहो सुखी कौन, नरेन्द्र--योषिते !"
"परिग्रहो की तज व्याधियाँ सभी
मनुष्य ध्यानामृत-पायि[1] सर्वदा
निवास जो हो करता अरण्य मे"

(४१)

"सु-वस्तु भू मे परिचिंतनीय क्या ?"
"विनाश दुर्जेय स्व-कर्म-शत्रु का"
"सुभर्तृके ! सग्रहणीय वस्तु क्या ?"
"अक्षय्य नि श्रेयस-सिद्धि-कल्पना[2] ।"

(४२)

"करे समुद्योग कहाँ, वरागने ?"
"तपादि रत्न-त्रय प्राप्त हो जहाँ ।"
"प्रशसनीया किसकी सुवृत्ति है ?"
"सु-पात्र-दानाश्रय जो गहे सदा ।"

(४३)

"कहे किसे मित्र ? बताइए हमे,"
"छुडा सके जो अघ-ओघ से तुम्हे ।"
"मनोरमे ! भू पर कौन शत्रु है ?"
"न पालने दे व्रत धर्म जो तुम्हे ।"

---

[1]पीनेवाला । [2]रचना ।

(४४)

"नृपालिके ! कौन समान आपके
जिनेन्द्र के तुल्य सु-पुत्र-जन्म दे,
कि कौन माता ? कृपया बताइए,"
"जने मुदा कर्म-करी-मृगेन्द्र जो।"

(४५)

"नतभ्रु ! पाण्डित्य-यथार्थ-रूप क्या ?"
"अघौघ-क्रोधादि-कषाय छोड़ना।"
"कहो, कहे सुन्दरि ! मूर्ख भी किसे ?"
"स्वधर्म की जो अवहेलना करे।"

(४६)

"कहे किसे वीर ?" "कि धर्म-शस्त्र से
संहारता जो अरि काम-क्रोध-से।"
"कहें किसे देव ? 'गुणाढ्य, विज्ञ, जो
क्षुधादि अष्टादश-दोष-शून्य हो।"

(४८)

"त्रिलोक का नाथ, अधीन-सश्रयी
व्रती दया-गेह त्वदीय सूनु हो,
हुई सुनेत्रे ! उदरस्थ सत्य ही
अतीव कल्याणकरी विभूति है।"

[द्रुतविलंबित]

(४९)

सखि-समूह-प्रशसित सुन्दरी
उठ पडी त्रिशला शयनांक से,
जिस प्रकार पयोधर-तल्प से
उठ पडी चपला[1] घन-वल्लरी।

[वंशस्थ]

(५०)

उसी घडी पूर्व-दिशा-प्रकाशिनी
किया उषा ने अमिताभ व्योमको,
दिशा-दिशा मे उगते दिनेशकी
दिगन्त-व्यापी यह घोषणा हुई —

(५१)

"विलोक लो, है शुभ वार आ गया
यही तुम्हे जीवन[2] है विशेषत,
उठो, उठो, ईश्वर प्रार्थना करो,
जगो जगो सत्वर कार्य में लगो।

[1]शीघ्र-गामिनी। [2]कर्मजागरण ही मनुष्य का जीवन है।

(५२)

"यथार्थता, जीवन की विशेषता
विभिन्नता, जीव-समूह-साम्य भी
भरे हुये है इस एक वार[1] में
अत करो यापन[2] दिव्य-काल का।

(५३)

"भरा हुआ उन्नति-सौख्य से मुदा,
सजा हुआ कर्म-महत्त्व से सदा,
समस्त-सौंदर्य्य-प्रभाव-युक्त है
यही महा मजुल वार आज का।

(५४)

"सुमेरु के मानस से उडा, हुआ
मराल-सा उज्ज्वल, वार आ गया,
अमर्त्य-सदेश लिए हुए चला
अनूप पूर्व-क्षुप[3]-शेखरस्थ है।

(५५)

"गया, विलोको, वह वार व्यर्थ ही,
कि अस्त होता जिसका तमिस्रहा
लखे कि कोई शुभ कार्य्य आपके
सु-कार्य-कारी कर से न हो सका।

---

[1]'आज' का वर्णन-प्रारभ। [2]विताना। [3]वृक्ष।

(५६)

"विभावरी[1] के तम-पृष्ठ पै कही
नितान्त अज्ञात सु-दूर देश मे
दिनेश, जाती[2]-सुम के समूह-सा,
विलोकता था क्षण वार-जन्म का ।

(५७)

"अनादि का और अनन्त का हुआ
अनूप यो सगम आज व्योम मे,
प्रभात-प्याला उफना उठा, अहो !
गिरा रहा उज्ज्वल धार तेज की ।"

(५८)

कठोर-गर्भा त्रिशला मदालसा
निवृत्त होके निज नित्य-कर्म से
विलोकती वासर-कान्ति सुन्दरी
इतस्तत प्रागण मे बिछी हुई ।

(५९)

कभी-कभी सो पद मद-मद दे
निवेश मे थी चलती सुलोचना,
चतुर्दिशा सम्यक दृष्टि-पात से
बिछा रही उज्ज्वल नील कज थी ।

---

[1]रात्रि । [2]पीली चमेली ।

(६०)

समस्त-कर्तव्य-परायणा सखी
अजस्र सलग्न स्वकीय कार्य में;
विनोद देती सब भाँति-भाँति के
मुदा सपर्य्या रचती प्रकाम थी।

(६१)

निवृत्त हो दैनिक कार्य-भार से
सहेलियाँ चग-मृदग-वाद्य ले
तुरन्त गाने लगती स-मोद वे
पिकी-मयूरी-चिमि[1]-चातकी-समा।

(६२)

अनूप ताल-स्वर-युक्त राग वे
मुदा सुनाती ध्वनि तीव्र मद्र से,
नरेन्द्र-जाया शयनाक-सस्थिता
गँभीर-भावा सुनती स-मोद थी।

(६३)

स-झाल-मजीर-विषाण[2]-वेणुका
सुषीर-आनद्ध[3]-समस्त वाद्य से
सहेलियो की कल काकली मिली
सुगीति रानी सुनती प्रमोद से।

---

[1]शुकी। [2]शृग। [3]विविध प्रकार के ताल एव मुंह से बजने वाले बाजे।

(६४)

चली जया[1] की तनु[2] अंगुली तभी
विपंचिका पै अति तीव्र चाल से;
चली कि झंकार-समुद्र-अंग मे
चढाव-कल्लोल, उतार-ऊर्म्मिका[3] ।

(६५)

मृदग पै जो विजयागुली[4] पडी
स-ताल मद्र-स्वर थी निकालती,
तडिल्लताएँ जिस भॉति मेघ से
उछालती हो ध्वनि अतरिक्ष मे ।

(६६)

कलावती[5] की मृदु मीड बीन पै
समाप्त होती इस भॉति थी नही,
बजे हुए वेणुक[6] के दिगन्त मे
न अत होता जिस भॉति शब्द का ।

(६७)

नरेन्द्र-जाये ! तव प्रेम-गीत से
सुनो, उठी गा सकला सहेलियॉ,
विराजिता प्रावृट् आम्र-कुंज मे
अलापती है यह कुज-कोकिला ।

---

[1]सखीविशेष । [2]पतली । [3]लहर । [4]विजया सखी की अगुलियाँ ।
[5]सखीविशेष । [6]वशी ।

(६८)

पराग-सा प्रेम स-राग भासता
कि पखडी-सा पद एक-एक है,
सुगध फैली स्वर की विकस्वरा[1]
सँगीत भी कज-प्रसून-तुल्य है।

(६९)

वता, सखी! गीति-निनाद-मोद ने
निसर्ग से जन्म लिया कि स्वर्ग से
कि सृष्टि की है यह भूति[2] आदिमा
सुपर्व-सदत्त[3] कि सिद्धि अतिमा।

(७०)

सगीत से मानव ही न मोहते,
विमुग्ध होते मृग भी सुने गये,
पयोद ही हैं घिरते न व्योम में,
प्रदीप भी हो उठते प्रदीप्त हैं।

(७१)

सगीत के शब्द सितार-तार मे
प्रसुप्त थे जो श्रुति[4] से परे अभी,
नृपालिका के मन के प्रमोद को
दयावती[5]-अगुलि ने जगा दिया

---

[1]विकसनशील। [2]विभूति, घन-शोभा। [3]देवता-प्रदत्त। [4]श्रवण-शक्ति। [5]सखीविशेष।

(७२)

नरेन्द्र-जाया-हृदयानुभूति को
न गीत-प्रेमामृत स्थैर्य्य दे सका।
वरञ्च आयी जठरस्थ-पुत्र मे
त्रिलोक-विस्फूर्ति-प्रदातृ-चालना ।

(७३)

प्रियबदा[1] के मुरली-निनाद से
प्रवाहिता होकर भाव-भूमि मे
हुई समुत्सारित श्रोतृ-श्रोत्र[2]मे
प्रसन्न--गभीर-पदा रसापगा।

(७४)

सँगीत मे है जिस भाँति काव्य मे,
कला अनता अनवाप्त यत्न से,
जिसे कि कोई जन सिद्ध-हस्त ही
दिखा सका है अनवद्य[3] भाव से

(७५)

सुविक्रमी वीर कृपाण-धार से
किरीट लेता हर भूमिपाल का,
परन्तु सँगीत-सुविज्ञ सर्वदा
स्वराज्य-भोक्ता वनता त्रिलोक मे ।

---

[1]सखी का नाम। [2]सुननेवालो के कान। [3]पवित्र।

(७६)

विपञ्चि! तेरे तनु[1] एक तार ने
हिला दिया राग-विहीन गर्भ भी,
यही प्रशंसा भवदीय न्यून क्या
कि जो पुनः लीन हुई स्व-राग मे।

(७७)

न देव होते अभिभूत क्यो, शुभे!
सँगीत देवालय-योग्य वस्तु है,
न युक्त संगीत-प्रभाव से हने
कुरंग को व्याध, अमाप[2] पाप है।

(७८)

लिखा गया दिव्य सँगीत सर्वदा
दिगंत-पृष्ठो पर नाक-लोक के;
कहा गया है उस शब्द में कि जो
प्रसिद्ध भाषा सुमना[3]-समाज की।

(७९)

समोद गावो अतएव, देवियो!
निरंतरास्वादन-दत्त-चित्त हूँ,
विधान सौधर्म्म-महेन्द्र का यही,
सँगीत है दान महान ईश का।

---

[1]कोमल। [2]अत्यन्त। [3]देवता।

(८०)

विपञ्चिके[1] धात्विक शब्द तावकी[2]
विमोहते जीवित-भृग-मंडली,
मनोरमा है ध्वनि भासती मुझे
सुकोमला नाद-कला अकथ्य है।

(८१)

सरस्वती लेकर बीन स्वर्ग में
निसर्ग के आदिम-काल मे पुरा
लगी जभी सुन्दर गान छेड़ने
हुई स्वयभू-श्रुति अष्ट-श्रोत्र[2]की।

(८२)

निनाद होता अति शुष्क पर्ण मे,
अजस्र गाती सरि-धार गीति है;
मनुष्य के हो यदि कान, तो सुने
सँगीत व्यापा वन-अद्रि-व्योम मे।

(८३)

सँगीत आत्मा त्रसरेणु[3]-व्यापिनी
त्रिलोक-स्रष्टा विभु से रची गयी;
प्रसिद्ध भू मे श्रुतियाँ न चार ही
वरच द्वाविंशति[4] है, अनन्त है।

---

[1]तेरे। [2]ब्रह्मा। [3]वह कण जो वायु में अदृष्ट उडते रहते है। [4]बाईस।

(८४)

अहो! तुम्हारे, सखियो! सँगीत से
प्रसन्न आत्मा मम हो रही मुदा,
द्यु-लोक-गामी रथ पै सवार-सी
जिनेन्द्र-मार्गाभिमुखी वनी अभी।

(८५)

सुनी तुम्हारी मृदु गीतिका जभी
पयोद आये घिर प्राच्य[१]व्योम में,
अहो! तुम्हारे पट से सुरग ले
उगा, हुआ सुन्दरि! इन्द्र-चाप है!

(८६)

हुई प्रतीची अनुरजिता, तथा
प्रसन्न होता रवि अस्तमान है,
विमुग्ध प्राची-घन मे उगा हुआ
सुरेन्द्र-कोदड[२] विराजमान है।

(८७)

नही रंगो से यह है वना हुआ
न स्वर्ण से, पारद से न ताम्र से,
स-जीव कोई घन तत्त्व है कि जो
प्रशस्त स्वर्गीय महत्त्व-युक्त है।

---

[१]पूर्वीय। [२]धनुष।

(८८)

प्रकाश के ले बहु अंशु[1] सूत्र-से
सम्हाल यामा[2] निज चातुरी-तुरी[3],
सुवायिका[4]-सी रचती अनन्त मे
समस्त-रगी पट धूप-छाँह का।

(८९)

प्रकाश की राशि प्रशान्ति भास्वरा[5]
परात्म[6]-सदृष्ट, प्रदीप्ति शाश्वती
समूढ होके रचती प्रभावती
सुरेश-चापाकृति चित्त-मोहिनी।

(९०)

दिनान्त आया, गत दीप्ति हो चली,
प्रगाढ छाया-तम भासने लगा,
समाप्त सगीत हुआ निवेश मे,
प्रमोद-दायी रवि अस्त हो गया।

(९१)

कलत्र—चूडामणि ! भूप-योषिते !
कुरंग-नेत्रे ! त्रिशले ! महान तू,
सुभाग्य तेरे जठरस्थ पुत्र का
न अस्त होगा इस बार-नाथ-सा।

---

[1]किरण। [2]रात्रि। [3]तागा भरी नली जो कपड़े का बाना बुनती है।
[4]कपडा बुननेवाली। [5]प्रकाशित होनेवाली। [6]परमात्मा।

(९२)

स्वभाव, शोभा, गुण, रंग, रूप भी,
चरित्र तेरा जिनसे प्रशस्त है,
प्रभाव से ही उदरस्थ पुत्र के
न नष्ट होगे इस इन्द्र-चाप-से।

(९३)

शुभे ! तुम्हारे हंसते कपोल पै
नृपाल का शाश्वत प्रेम राजता,
न शब्द से जो परिमेय[1] सर्वथा
अजस्र क्रीडा प्रति-मूर्त राग की

(९४)

नरेन्द्र-मेघ-स्थित इन्द्र-चाप-सी,
दिनान्त की सुस्मृति-सी मनोरमा,
निशान्त की नव्य उषा-समा शुभा,
प्रसिद्ध तू धर्म-दिनेश-मातृका[2]।

(९५)

वसन्त-आकाश-समान मंजुला,
सरोज-किंजल्क[3]-समान कोमला,
प्रभात-संगीत-समान सौख्यदा,
जिनेन्द्र की तू जननी प्रमित्र हो।

---

[1]नापी जानेवाली। [2]जननी। [3]पराग।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

जननि तू अमितभ[1] जिनेन्द्र की
विदित है सदया नृप-वल्लभा,
हृदय यद्यपि पूर्ण बलिष्ठ है
मृदुल चित्त सिरीष[2]-प्रसून-सा।

---

[1]अत्यन्त शोभावाली। [2]सिरस का फूल।

सातवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

वसन्त आया कल-कठ ने कहा,
वसन्त आया अलि-कीर ने कहा,
दिगन्त मे, अंबर[1] मे, धरित्रि में।
वसन्त की आगम-घोषणा हुई।

(२)

वसन्त-दूती मधु-गायिनी[2] पिकी
उपस्थिता मंजु रसाल-डाल पै
अमद वाणी यह बोलने लगी —
"वसन्त आया, ऋतुराज आ गया"।

(३)

सुमद भाषा अलि बोलने लगे,
रसाल[3] जिह्वा शुक खोलने लगे,
अनेक पारावत[4] भूप-गह से,
स-प्रेम बोले, 'नव वर्ष आ गया'।

---

[1]आकाश। [2]वसंत में गाने वाली। [3]रस-युक्त। [4]कबूतर।

(४)

अमद वाणी कलविंग[१]-वृन्द की
नरेन्द्र-धामस्थ-कुलाय[२] से हुई,
'महीप जागो, नव वर्ष आ गया
नरेश जागो, नव याम आ गया'।

(५)

पिकी अदूरस्थ रसाल-वृक्ष से
जता रही इगित[३] से अजस्र थी,
कि किंशुकान्तर्गत[४] बाल-रश्मियाँ
बना रही है स्मर-चाप-भगिमा।

(६)

प्रसन्न कासार-विकासि कंज मे
रमे कलालाप[५] महान मुग्ध थे
पतग[६] के आगम से इतस्तत
पतंग[७]-से वानर डोलने लगे।

(७)

अहो! मरुच्चुवित-बाल-केसरी
विशाल - ताराधिप - मडलाग्रणी,
विरक्त-रामातुर-दृष्टिवान हो
वसन्त आया हनुमान-रूप मे।

---

[१]गौरैय्या। [२]घोंसला। [३]इशारा। [४]पलाश। [५]मिलिन्द। [६]सूर्य। [७]उड़ती पतग।

(८)

विवाह था या कि रचा गया वहाँ
वनस्थली का ऋतुराज से मुदा,
पलाश-साक्षी बन अग्नि-से गये,
कि थे पुरोधा[1] पिक मंत्र कूजते।

(९)

न सोहता सो सर कंज-हीन जो,
न सोहता भृंग-विहीन-कंज भी,
न सोहता गुंजन-हीन भृंग है,
न सोहता गुंजन माधवी बिना।

(१०)

सु-पत्र आये, फिर पुष्प भी लसे
प्रसून आयें, फिर भृंग भी बसे,
हुई समुत्सारित[2] यों वनान्त में
वसन्त के आगम की प्रतिक्रिया।

(११)

वसन्त का वायु बिखेरता चला
अहो! रजो-राशि[3] बिस[4]-प्रसून की,
विमुग्ध थे देख सु-मंद चाल को
मिलिन्द के पुंज लता-निकुंज में।

---

[1]पुरोहित। [2]फैली हुयी। [3]पराग। [4]कमल-दंड।

(१२)

मिलिन्द-वृन्दावलि नाद-युक्त थी,
निपात होता मधु-दान[1]-वारि का,
प्रमत्त-सा कुंजर-कुंज वायु यों
चला जभी अंबुज काँपने लगे।

(१३)

विहग बोले, तरु कूजने लगे,
नदी तरंगायित हो उठी तभी,
शुचि-स्मिता थी नव मल्लिका[2]-लता
गुणोज्वला थी वह भृंग-वल्लभा[3]।

(१४)

नृपाल-आराम प्रफुल्ल-प्राय था,
मिलिन्द-नंदा[4] नव यूथिका[5] खिली,
अपार-भृंगोत्सव-युक्त मालती
मिलिन्द-वर्षा-मय वेशिका[6] वनी।

(१५)

प्रमोदिनी[7] थी अति शीतभीरु जो
वनान्त मे कानन-चंद्रिका वनी,
वसन्त मे होकर मुक्त-बंधना
सिता हुयी सो गिरिजा[8]-समान ही।

---

[1]हाथी का मद। [2]नेवारी। [3]जूही (सफेद) [4]भ्रमरो को प्रसन्न करने वाली। [5]जूही (पीली)। [6]चमेली (सफेद) [7]वेला। [8]वेला।

(१६)

हिरण्य-जाती[1] सुखदा मनोहरा
प्रियंबदा[2]-सी मन मोहने लगी।
महाकुमारी[3]-सम नाग-पुष्पिका[4]
मिलिन्द-प्रेमी-गण वर्जने लगी।

(१७)

विलोकने को मधु-मास की छटा,
सराहने को नव-पुष्प-मजुता,
समस्त लेके निज सग मे सखी
चली मनोज्ञा त्रिशला सुतालसा[5]।

(१८)

कठोर-गर्भा लख भूप-सुन्दरी
सहेलियाँ यो बहला चली उसे।
स-मोद गाती कुछ सग मे चली,
प्रभा दिखाती कुछ थी वसन्त की।

(१९)

"लखो-लखो भूतल मे बिछी हुई,
महान शोभा ऋतुराज-प्रात की,
प्रफुल्ल-प्राया कलिका-समूह से
मनोज्ञ आराम[6] बना नरेश का।

---

[1]चमेली (पीली)। [2]प्रिय बोलनेवाली, चमेली। [3]गुलाब। [4]जूही-(पीली)। [5]गर्भ-भार से अलसित। [6]बाग।

(२०)

"स्वकीय पुष्पाञ्चल से वसन्त भी
बिखेरता पुष्पित कुड्मलादि है,
प्रतान मे पुष्प-प्ररोह-ऊर्जना
गिरा रही पुष्पज रम्य रेणु है।

(२१)

"मनोहरा देव-प्रिया वसन्तजा[1]
बना रही उत्तम पुष्प-वाटिका,
प्रमोदिनी[2] सुन्दर भद्र-वल्लरी
उपाधि पाती सित गन्धराज की।

(२२)

"लखो शुभे ! पुष्प खिले हुए यहाँ,
सुवर्ण-से देव-मुखारविन्द के,
सुगन्ध भू मे जिनकी महान है
भरी हुई मोहन-मन्त्र-भेद[3]-सी।

(२३)

मनोज्ञ-सौन्दर्य्य-प्रसन्न-वर्ण मे
प्रसून के प्राण छुपे हुये, शुभे !
नसो-नसो मे जिनकी नवा-नवा
स-भेद भाषा मृदु प्रेमकी लिखी।

---

[1]चमेली (पीली)। [2]वेला। [3]रहस्य।

(२४)

"विशिष्ट सद्भाव प्रसून-आस्य पै
प्रमोद, आशा, स्मित के विलोकिये,
विमोहिनी दर्शक-दृष्टि की महा
निगूढ है सुन्दरता प्रसून मे।

(२५)

समस्त-सारग-प्रतान-कुज मे
विवाहिता गध हुयी सु-वर्ण से,
ललाम वीणा बजती मिलिन्द-सी
मृदग की ताल पिकी लगा रही।

(२६)

बनी रुदन्ती[1] शिशिरर्तु-मृत्यु पै
जिसे हसन्ती[2] कहते सभी, शुभे!
दृगम्बु-द्वारा नव यूथिका खिली
हुई सुवृत्ता यह रक्त-बुन्द से।

(२७)

न जानता कौन मनुष्य जो, शुभे!
सदा रहा हो अभिभूत प्रेम से,
कि एकता ही करती प्रसिद्ध है
प्रसून-सभाषित कोमला कथा।

---

[1]रोती हुई। [2]जूही (सफेद)

(२८)

"बजा जभी अश्रुत[1] काल-यंत्र तो
झुका दिया शीस प्रसून-वृन्त ने
विलोकिये, है कहते उसे, शुभे !
तुरन्त सर्वेश-निदेश-पालना ।

(२९)

"हिरण्य-वर्णे ! सुमने[2] ! सुर-प्रिये !
अये जनेष्ठे[3] ! वन-चन्द्रिके ! सहे !
अये सुगंधे ! अयि चन्द्र-वल्लिके[4] !
वसन्त ने स्वागत प्रेम से किया ।

(३०)

"प्रभात-ओस-स्नपिता[5] कुमारिका
समीर-सचालित हेम-यूथिका
भ-चक्र-सपोषित स्वर्ण-जातिका
खिली हुई चित्र-अरण्य[6]-अंक मे

(३१)

"न ज्ञात है कौन प्रसून प्रेय है,
न जानती सुन्दर पुष्प कौन है,
सहा[7], गवाक्षी[8] अथवा शिखण्डिनी[9]
कि मालती, माधविका कि मल्लिका ।

---

[1]जो न सुना जा सके । [2]चमली । [3]बेला । [4]माधवी । [5]स्नान किये हुये । [6]फुलवाडी । [7]गुलाब । [8]बेला । [9]जूही (सफेद) ।

(३२)

"कपोल-आरक्त गुलाब के लसे
पिशंग[1] सारी पहने वसन्तजा[2]
वरांगना है, यह शीतल-च्छदा
प्रसन्न सर्वांग-समुज्वला सिता।

(३३)

"प्रसून-भाषा हृदयानुमोदिनी
अबोध को भी अति बोध-गम्य है,
प्रसून-शोभा चढ कूट-श्रृंग पै,
बिछा रही तारक-राशि व्योम मे।

(३४)

"प्रसून-भाषा मृदु प्रेम की कथा,
प्रसून-माला युग प्रेम की कथा,
प्रसून-वर्षा सुर-प्रेम की कथा,
प्रसून-आभा प्रभु-प्रेम की कथा।

(३५)

"विशाल वल्ली-वन मे, वनान्त मे,
दिवा-उडु-स्तोम[3] प्रसून-गुच्छ मे,
विहीन हो जो कि अपांग-पात से
मुखेन्दु तेरा त्रिशले ! विलोक ले।

---

[1]पीली। [2]नेवारी। [3]दिन मे उगे हुये नक्षत्रो का समूह।

(३६)

"विलोकने को तुमको, नृपालिके !
अजस्र जागी नव रात कर्णिका,
उषा-समा आनन की प्रभा लखे
हुयी सहर्षाश्रु महा, न ओस है।

(३७)

"कि अम्बरा-लोचन-रञ्जनार्थ' ही
खिले हुये वारिज हैं तड़ाग में,
कि अम्बरा-लोचन-साम्य के लिये
उगे हुये हैं सर में सरोज ही।

(४०)

सहेलियो के सग मे यहाँ-वहाँ
विलोकती थी त्रिशला प्रसन्न हो
चली न डोली निज गर्भ-भार से
प्रशान्त बैठी लखती सुदृश्य थी ।

(४१)

समीप ही एक गुलाब-वृक्ष था,
प्रसून फूले जिसमे अनेक थे;
नृपालिका-स्वागत-हेतु प्रेम से
प्रसारता था अपनी सुगंध जो ।

(४२)

समीर की एक तरग ने कहा,
"समीप उत्फुल्ल गुलाब-वृक्ष है"
मिलिन्द के मंद निनाद ने कहा,
"यही कही पास गुलाब-पाश[1] है ।"

(४३)

न पखड़ी शाश्वत[2] है गुलाब की,
दशा न है केसर की सनातनी,
परन्तु तो भी इसकी सुगध मे
चिरतनी अस्थिरता अवश्य है ।

---

[1]गुलाब का जाल, झाड़ी । [2]सनातनी

(४४)

प्रसून आधा यह धूप मे खिला
तथैव आधा वह छाँह मे खुला,
खिला-खुला एक रहस्य में छिपा
मनुष्य का जीवन धूप-छाँह-सा।

(४५)

धरित्रि मे, आदिम सृष्टि-काल में,
हुआ जभी था अवतार प्रेम का;
गुलाब ही कोमल तल्प[1] मे, तभी
गया बिछाया सुख से निसर्ग से।

(४६)

समस्त सौन्दर्य्य-प्रपूर्ण वस्तुएँ
अदीर्घ-कालीन प्रभामयी यहाँ,
विलोक लो जीवन भी गुलाब का
अतीव है अल्प, महान स्वल्प है।

(४७)

"न सूर्य्य डूबै जबलौ दिगन्त में
गुलाब को लो चुन, पुष्प जा रहे।"
जभी जया यों कह वृक्ष को बढ़ी,
निवारने यों त्रिशला लगी उसे:-

[1]झूला, पलग।

(४८)

"न पुष्प तोड़ो, अब ! दूर ही रहो,
न वृन्त शोभा-हृत सौख्य-शून्य हो,
प्रसून में सृष्टि-प्रदत्त प्राण है
महान हिंसा सखि! तोडना इसे ।

(४९)

"मिलिन्द देखो वह आ रहा, उसे
निराश होना सखि ! यों पडे नहीं,
विलोक ले सुन्दरता प्रकाम सो
पिये सुखी हो मधु भी ललाम सो ।

(५०)

"कभी सु-जाती[१], अति गंध[२] मे कही
कभी सुरूपा[३], मधु-गंध[४] मे कही,
मिलिन्द लेता रस मोद-युक्त है,
निरी निराशा उसको न प्राप्त हो ।

(५१)

"मिलिन्द ही तो विष-पूर्ण पुष्प से
निकालता है मकरद की सुधा,
सराहिये जीवन तुच्छ जन्तु का,
विलोकिये अध्यवसाय जीव का ।

---

[१]चमेली (पीली) । [२]बेला । [३]चमेली (सफेद) । [४]नेवारी ।

(५२)

"मिलिन्द का कार्य्य मनोज्ञ गान है,
मिलिन्द की शान्ति अनूप तान है,
मिलिन्द की है अनुभूति प्रेम ही,
मिलिन्द का जीवन प्रीति-रीति है।

(५३)

"प्रियवदे ! तू तितली विलोक ले
अनेक-वर्णा सुषमा लिए हुये,
हुई समुत्पन्न लता-निकुज मे
सुमाध्य[1] के, कामुक[2] के, सुवृत्त[3] के।

(५४)

"पराश्रया को लख चारु-केसरा
प्रसून पै चक्रम[4] है लगा रही,
न जानती है रवि-रश्मि-मुग्ध हो
तन-प्रभा पै पड़ती विकीर्ण-सी।

(५५)

"गुणोज्वला पाकर वाल-पुष्पिका
अनेक देती यह भाँवरें मुदा
यथा किसी उन्नत अद्रि-शृग पै
सुमद हो चंक्रम श्वेत मेघ के।

---

[1]माधवी। [2]मालती। [3]मल्लिका। [4]चक्कर।

(५६)

"पतंग-जाये, सखि ! पास मे नही
स्व-बाल्य की है इतिवृत्त-लेखनी
विलोकते ही इसको, प्रियवदे !
मदीय होते सब स्वप्न मूर्त है।

(५७)

"प्रसून हो या शिशु हो, प्रियवदे !
पतंग हो, कोकिल हो, मिलिन्द हो,
उषा, शशी, पर्वत या वनान्त हो,
सभी यहाँ सुन्दर है, सुदृश्य है।

(५८)

"अनाथ है सुन्दरता न विश्व मे
न नष्ट-प्राया, क्षण-भंगुरा कभी,
न एक प्रेमी-जन ही प्रशसते,
वरंच सर्वेश्वर भी सराहते।

(५९)

"नतागि ! सौन्दर्य-स्वरूप का यहाँ
सभी–परीक्षा, गुण, ध्येय–प्रेम है,
जिसे दिलाती वहिरग-भावना
प्रपूर्णता आत्मिक अंतरंग की।

(६४)

"प्रभात देखा, दिन भी विलोक लो
प्रसून देखे, सुख-आल[1] देख लो,
लता निहारी, क्षुप भी निहार लो,
समस्त सौन्दर्य्य-प्रभाव-युक्त हैं।

(६५)

"चरा करें सारस-क्रौंच-कक[2] भी
फिरा करे टिट्टीभ, नीर-काक भी,
घिरे रहे भेक, बलाक भी सदा
न सोहता हस-बिना तडाग है।

(६६)

"नितान्त ही नीच, परन्तु रत्न भी
करे न तू खेद कदापि, वापिके!
महान तेरा रसवान चित्त है
गुण[3]-ग्रहीता तुझ-सा न और है।

(६७)

"तडाग-शोभा बस एक हस से,
कदापि होती न वलाक-पक्ति से
विवेक होता वक मे, मराल मे,
विभाग होता जब क्षीर-नीर का।

---

[1]थाला। [2]कौआ। [3]रस्सी।

(६८)

"रजस्क[1] है केतकि! पांडु वर्ण तू
महान ही कटक-पक्ति-अकिता,
महा त्रपा-निर्गत[2] भृंग नित्य ही
तथापि सेवा करता अजस्र है।

(६९)

"प्रसिद्ध भू में शित रंग काक का,
लखा गया कोकिल श्यामवर्ण है,
वसन्त होता सजनी! न आज जो,
विभेद होता युग जन्तु में नही।

(७०)

"विहार-सलग्न रसाल-कुंज मे
विहंग स्वच्छन्द-चरिष्णु[3] है सभी;
परन्तु क्यो पजर-बद्ध कीर है?
अनर्थकारी मधुरा गिरा, अहो!

(७१)

"चरिष्णु है आयत-लोचना मृगी
कुरग की भी प्रचरिष्णु दृष्टि है,
विभीत क्यो दपति भागते, अहो!
दीयम साध्वी सखि! तू न व्याधिनी।

---

[1]परागयुक्त। [2]निर्दय। [3]सचरण-शील।

(७२)

"अहो! कृतारण्य[1]-पलाशि[2]! धन्य तू
निलीन सर्वाङ्ग-परार्थ मे सदा,
प्रसून, छाया, फल, मूल, दारु से
सहर्ष सेवा करता मनुष्य की।

(७३)

"प्रसून मे चंदन के मिलिन्द है,
शयान शाखा पर भी विहंग है,
रसाल के ऊपर भी प्लवग[3] है,
लसी प्रशाखा पर वृक्ष-शायिका[4]।

(७४)

"समुच्चता से फल-लाभ क्या हुआ ?
विनम्रता से फल-प्राप्ति क्या हुई ?
पलाश-छाया-फल[5] क्या ? अशोक! तू
न दे सका जो फल पान्थ-पुंज को।

(७५)

"कदंब में, या अरविन्द मे कभी,
कुमुद्वती मे, अलि! कुंद-कुंज में,
यथा-तथा, काल बिता अभी, कभी
प्रहृष्ट होगी मृदु आम्र-मंजरी।

---

[1]फुलवाड़ी। [2]वृक्ष। [3]बानर। [4]गिलहरी। [5]लाभ।

(७६)

"अवश्य ही किंशुक-पुष्प! देखले
समान है तू शुक-तुंड के, सखे!
परन्तु क्या मानव-चित्त-मोहिनी
गिरा समुच्चारण मे समर्थ है?

(७७)

"चलो सखी! राज-निवेशको चलें,
खलें[1] न आराम-विहग-वृन्द को,
मराल को, कोकिल, कीर को, तजें
मिलिन्द को स्वैर[2] विहार के लिए।

(७८)

"दिगंत-आकाश-धरित्रि में जहाँ-
जहाँ सखी! मै निज दृष्टि डालती,
वहाँ-वहाँ भार अपार कांति का
भरा हुआ है मन मुग्ध हो रहा।

(७९)

"पिकी विषण्णा स्वर-भार-गर्भिता—
सहा लसी सौरभ-भार-गर्विता,
स्व-कान्ति के भार विनम्र व्योम है,
सुमंद है वायु सुगंध-भार से।

---

[1]दु:ख दें। [2]स्वच्छन्द।

(८०)

"धरित्रि भी है भृत[1] भार से हुई,
लदी कि मैं ही उदरस्थ भार से ?
कि दिग्वधू भी शिथिला हुयी, सखी !
कि पीतिमा सयुत सूर्य्य-रश्मि है ?"

(८१)

सुविज्ञ जो थी चतुरा सहेलियाँ
विलोक बोली त्रिशला ललाम से –
"नृपालिके ! सो शुभ काल आ गया
रही प्रतीक्षा जिसकी धरित्रि को।

(८२)

"सु-पीत गो-धूम[2] वरेणुका[3] हुई
सु-पक्व सारे हरि-मंथ[4] हो गये,
सु-धन्य राज्ञी ! अब धान्यराज[5] है
सु-वृत्त बीजा[6] परिपाक-पूर्ण है।

(८३)

"अत चले राज-निवेश को अभी
[7]बिलंबना है मति की विडंबना,
निसर्ग उद्‌भिन्न लगा विलोकने
जिनेन्द्र का संभव-काल आ गया।

---

[1]भरी हुई। [2]गेहूँ। [3]अरहर। [4]चना। [5]जौ। [6]मटर। [7]देर करना।

(८४)

"त्रयोदशी है मधु-मास की शुभा,
पुनीत रात्री। यमणाख्य[1]योग है,
विधातृ[2] नक्षत्र प्रदीप्तमान है,
उदीयमाना शुभ सिंह-लग्न है।

(८५)

"धरे हुये रत्न अमूल्य गर्भ में
कि रत्न-गर्भा अचला विराजती,
लिये हुये यों उदरस्थ पुत्र को
कि दर्शनीया त्रिशला महान तू।"

(८६)

निविष्ट होके नव मास गर्भ मे
न दुःख व्यापा उदरस्थ पुत्र को,
यथैव मुक्तागत नीर-बुंद मे
विकार आता न कभी लखा गया।

(८७)

जिनेन्द्र-माता त्रिशला ललाम की
सदा अभग्ना त्रिवली बनी रही,
यथा उषा लेकर भानु गर्भ मे
अभंगिमा-युक्त लसी प्रभात से।

---

[1]योग-विशेष। [2]रोहिणी।

(८८)

दिनान्त-आभा अति ही प्रसन्न थी,
दिगंत मे एक विभास[1] आ गया,
सुगंध के संयुत शीत वायु भी
सु-मंद हो भू-पर डोलने लगा।

(८९)

[कपोत को धावित[2] चाष ने तजा,
न सर्प ने रावित[3] भेक को भजा,
बिडाल पै दाँव किया न श्वान ने,
न सिंह ने ध्यान दिया कुरंग पै।]

(९०)

तुरत लौटी त्रिशला स्व-गेह में
सनाथ[4] थी गीत-रता सहेलियाँ,
बजे उसी काल सु-वाद्य साथ मे
हुआ महाकाश-निनाद गेह मे।

(९१)

"अहो! महासिद्ध, अनाथ-नाथ ही,
पधारते है, सब सावधान हो;
धरित्रि मे केवल-ज्ञान-सूर्य्य के
प्रसिद्ध भावी उदयाद्रि आ रहे।

---

[1]उजाला। [2]दौडते हुये। [3]शब्द करते हुये। [4]साथ।

(९२)

"मनुष्य मिथ्या-मति-अंध-कूप में
पडे हुये जो, उनको उबारने
पधारते है निज-धर्म-हस्त से
प्रकाम देने अवलम्ब विश्व को।

(९३)

"पवित्र वाणी जिनकी अजस्र ही
अनूप देगी उपदेश विश्व को,
विनाशकारी बहु-भाँति कर्म के
जिनेन्द्र है भूतल मे पधारते।

(९४)

"प्रसिद्ध जो धर्म-प्रवृत्ति-हेतु है,
अपार-ससार-समुद्र-सेतु है,
समुच्च जो ज्ञान-अनीक[1]-केतु है,
पधारते है महि मे जिनेन्द्र वे।

(९५)

"उठो, उठो, सत्वर प्राणियो! उठो,
प्रवृत्त हो आश्रित[2] जीव धर्म में,
हुआ सभी का भव[3] नष्ट विश्व मे,
महान सौभाग्य उदीयमान है।

---

[1]सेना। [2]अधीन। [3]अंधकार।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

मनुज को अति दुर्लभ सूनु है,
सुत कि जो मति-मान प्रसिद्ध हो
श्रुति-'विहीन वृथा मति जीव की
अवधि-ज्ञान'-विना श्रुति भी वृथा ।

आठवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

चतुर्दशी है मधु-मास की शुभा
प्रसन्नता-पूर्ण प्रभात-काल है,
नरेन्द्र-धाम स्थित सौरि-गेह मे
प्रसूत सद्धर्म-त्रिविष्टपेश[1] है।

(२)

महान-शारीरिक-कष्ट-सिंधु को
मुदा करेगा शिशु पार अन्त मे,
विभूति देगा वह विश्व को कि जो
विनाश देगी जन-कर्म-भावना।

(३)

अनत का यो अभिमान छोड़ के
विहाय उच्चास्पद स्वर्ग-लोक भी,
प्रसिद्ध सिद्धोचित धर्म-सपदा
समूढ[2] हो, भू पर आज आ गयी।

---

[1]भगवान महावीर। [2]एकत्रित।

(४)

मुनीश्वरो की महिमा अपार जो,
दिगीश्वरो की सुख-धाम सपदा,
सुरेश्वरो की सब सिद्धि मूर्त हो
विराजती है त्रिशला-निकेत में।

(५)

विहाय सो शाश्वत दीप्ति स्वर्ग की
समृद्धि जो मानव-कर्म-शोधिनी
स-देह अंगीकृत जीव-विक्रिया
विशुद्धि आयी वसुधा-विभासिनी।

(६)

"अतः इले, ईश्वरि वर्ण-मातृके[1]!
अनूप वाक्येश्वरि! क्या न तू शुभे!
अभी धरेगी कुछ छन्द भेंट में
त्रिलोक उत्कोच[2]-प्रदान-मग्न है।

(७)

"अभी न आयी रवि-रश्मि व्योम में
प्रभात-तारे नभ है न त्यागते,
उठी उषा केवल प्रार्थनार्थ है,
प्रकाश दे तू निज काव्य-ज्योति का।

---

[1]सरस्वती के (सब) नाम। [2]भेंट।

(८)

"न आ सके अबर मे दिनेश, या
न पा सके पार्श्व उषा प्रसूत[1] का
तुरन्त आ तू प्रतिभे ! स-प्रेम ही
सगीत गा विश्रुत वर्द्धमान का।"

(९)

पुनीत प्यारा ऋतुराज-काल था,
प्रभात का दिव्य प्रकाश छा गया,
नृपालिका की अँकवार[2] मे लसा
सुपर्व-समोहन दिव्य पुत्र था।

(१०)

निसर्ग ने ससृति-नाथ के लिए
खिला दिये पुष्प-समूह सर्वथा,
त्रिलोक-भाग्योदय-सूचनार्थ ही
दलो-फलो से लद वृक्ष भी गये।

(११)

तड़ाग मे उन्नत हो उरोज से
सरोज के वृन्द विराजमान थे,
सरोजिनी ने जिनको स-लज्ज हो
ढका दलो से निज नग्नता छिपा।

---

[1]उत्पन्न (पुत्र) का। [2]गोद।

(१२)

त्रिलोक-स्रष्टा निज नेत्र से नहीं
विलोक पाये महि की सुरम्यता
इसीलिए किंशुक ने स्वभाव से
अहो! छिपा ली वन की स्थली सभी।

(१३)

विलोक सश्रान्ति-समेत मेदनी,
स-चेत सर्वेश्वर ने स्वदूतिका—
प्रशान्ति भेजी द्रुत अंतरिक्ष से,
तुरन्त दी शान्ति धरित्रि-व्योम को।

(१६)

विषाण भी सम्यक् शब्द-हीन थे,
तुरग भी स्यदन से विहीन थे,
नृपाल सारे रण-रिक्त पीन थे,
समस्त सर्वेश्वर-भक्ति-लीन थे।

(१७)

प्रशान्ति-साम्राज्य-प्रसार भूमि मे
जभी किया केवल-ज्ञान-भूप ने,
प्रशान्त-व्योम-स्थित-ऋक्ष-वृन्द थे,
नितान्त थी शान्ति-मयी विभावरी।

(१८)

सभी समुद्वेलित[1] नीर-वीचियाँ,
छुयी गयी वेग-विहीन वायु से,
प्रशान्ति से सभृति[2] चद्रिका हुई
तथा असभ्रान्त समुद्र हो गया।

(१९)

महान आश्चर्य्य-समेत व्योम मे
बनी रही निश्चल तारकावली,
हिली नही स्वीय प्रकाश-अक्ष से,
गयी नही पश्चिम दिग्विभाग मे।

---

[1]उच्छल। [2]भरी हुई।

(२०)

प्रभात के यद्यपि सूर्य्य-देव ने
उन्हें भगाया वहुधा स्व-रश्मि से,
परन्तु तारे गति-हीन ही रहे,
हटे न आज्ञा तक देव-देव की।

(२१)

प्रकाश ने यद्यपि अधकार को
भगा दिया नष्ट हुई विभावरी,
परन्तु पूषा[1] उदयाद्रि पै रुका
न व्योम-गामी रथ पै सवार था।

(२२)

विकास के सम्मुख कोटि-भानु के
प्रकाश था तुच्छ सहस्र-भानु का,
महान लज्जा-वश हो इसीलिए
छिपा लिया आनन विश्व-चक्षु[2] ने।

(२३)

सुवृत्त[3] हो तस्कर-वृत्ति त्याग के
प्रशान्त बैठे घर चौर-वृन्द थे,
उठे सभी स्वागत के लिए तभी
प्रसन्न हो मानव-कर्म-चौर के।

---

[1]सूर्य्य। [2]सूर्य्य। [3]अच्छे आचरण वाले।

(२४)

नृपाल-कारागृह मे पड़े हुये
स्व-मुक्ति आज्ञा-पथ जोहते हुये,
समस्त वदी करते प्रणाम थे
प्रसन्न हो विश्व-विमुक्ति-हेतु को ।

(२५)

उसी घडी दिव्य-सगीत स्वर्ग से,
पुरा सुना जो न गया मनुष्य से,
लगा सभी की श्रुति[1] को सुहावना
सहस्र-वीणा-मय अतरिक्ष मे ।

(२६)

सभी नरो ने मन-मुग्ध हो सुना,
सरीसृपो ने विष त्याग के सुना,
समीर ने भी प्रतिशब्द से उसे
किया अनुप्राणित भाँति-भाँति से ।

(२७)

निसर्ग था विस्मित हृष्ट[2] सर्वत,
धरित्रि रोमाचित हो उठी सभी,
कृतार्थ ऐसे सब लोक हो गये
कि धन्य थे स्थावर-जगमादि भी ।

---

[1]कान । [2]आनदित ।

(२८)

समस्त भू मे, भुव में न स्वर्ग मे,
विविक्ति[1] थी अतिम दिव्य गान की,
त्रिलोक एकत्रित हृष्ट-चित्त हो
असख्य-कर्णान्वित हो गया तभी ।

(२९)

पुनश्च विद्याधर किन्नरादि भी
सुदिव्य-सगीत-निमग्न-चित्त हो,
स्वकीय तेजोमय रम्य-राग से
लगे भगाने तम जीव-लोक का ।

(३०)

स-हर्ष रभा, अतिमुग्ध मेनका,
नृपाल-धामागत-मध्य उर्वशी,
प्रहर्षिता नृत्य-कला-विशारदा
स-वाद्य-गीतान्वित नाचने लगी ।

(३१)

"समस्त सगीत अभूत-पूर्व है,
अभावि है," उन्मद[2] इन्द्र ने कहा,
समस्त तारे सुन नीर-बुन्द-से
समा गये सूर्य्य-समुद्र मे तभी ।

---

[1]शून्यता । [2]उन्मत्त ।

(३२)

न मेदिनी चचलता निभा सकी,
यथार्थ-नाम्नी अचला बनी रही,
पयोधि की चचल वीचियाँ सभी
नितान्त ही स्थैर्य्य-युता लखा पडी।

(३३)

दिनेश, राकेश, समस्त तारको!
स्वकीय सगीत हमे सुनाइए।
स-नृत्य हो वासर-यामिनी सदा
परिक्रमा हो करते जिनेन्द्र की।

(३४)

समस्त ताल-स्वर के घनत्व से
करो गुणीभूत विविक्त[1] व्योम को,
तुम्ही तपस्या-रत अतरिक्ष मे
सदा सपर्य्या रचते जिनेन्द्र की।

(३५)

सगीत ऐसा; चिरकाल से जिसे
रही सुनाती-सुनती वसुधरा,
पुनश्च लौटा शुभ—काल-लब्धि से,
स-हर्ष देगा युग स्वर्ण का हमे।

---

[1]शून्य।

(३६)

समस्त-मिथ्या-मत नष्ट-भ्रष्ट हो
विलीन होगे इस जीव-लोक मे,
समाज मे जो अघ-ओघ व्याप्त है,
न वे रहेगे क्षण-एक के लिए।

(३७)

प्ररोह होगा फिर सत्य-न्याय का,
तथा दया का अवतार विश्व मे
पुन अहिसा वर-वर्णिनी शुभा
सुदृष्ट होगी नव-इन्द्र-चाप-सी।

(३८)

क्षमा-समायुक्त पयोद-पुज पै
चढी स्व-पादोज्झित[1] धर्म-सपदा,
खुले अभी है यह देव-लोक के
निवेश के द्वार-कपाट भी नही।

(३९)

परन्तु बोला अति उच्च शब्द से
मनुष्य-सौभाग्य, "अभी नही, नही,
रुको, रुको, रच विलब है अभी
अबोध है, बालक वर्द्धमान है।

[1]चरणो से उछाली हुई

(४०)

"इन्हे सभी कर्म-विपाक नाशना,
परीषहो[1] के दृढ बध तोडना,
तथा परीक्षा खल कामदेव की
अवश्य देना अवशेष है अभी।"

(४१)

भविष्य-वाणी इस भाँति की हुई
प्रसुप्त प्राणी सुन जागने लगे।
अनूप-सध्येश्वरि[2] बोलती हुई
तुरत अतर्हित मेरु मे हुई।

(४२)

परन्तु डोली वसुधा स-भीत हो,
विभीत हो दिग्गज काँपने लगे,
पुन हुआ सो प्रतिशब्द व्योम मे
"अभी न नि श्रेयस है, मुक्ति है।

(४३)

"अभी हिलेगी धरणी प्रकप से,
अभी फटेगा नभ घोर घात से,
अभी महा-सिद्ध-शिलाधिरूढ हो
जिनेन्द्र देगे नव धर्म-सपदा।

---

[1]साधना-कालमें आनेवाले प्रत्यूह। [2]सरस्वती।

(४४)

'अघास्य'[1] दर्वी[2] अहि की प्रशान्ति भी
अवश्य होना अवशिष्ट है अभी,
अपूर्ण आशीविष काल-कूट से
प्रपूर्ण देता भय जो त्रिलोक को।"

(४५)

भविष्य-वाणी सुन अंतरिक्ष की
समस्त मिथ्या-मत भागने लगे,
अतथ्य ज्योतिर्विद मूक हो गये,
असत्य-भाषी फलितज्ञ मौन थे।

(४६)

सदैव हिंसा-प्रिय वाम-मार्ग के
गये प्रचारी सब भाग भूमि से,
कु-ग्रन्थ ले ले निज वाम-कुक्षि में
किसी गुफा में गिरि की समा गये।

(४७)

स्वतंत्र जो मान्त्रिक दुष्ट धर्म के
रचा रहे थे वध जीव-जन्तु का
सभी अभी वे तज हेति हस्त से
छिपे कहीं मन्त्र-चक्र त्याग के।

---

[1]ग्रह नाम का। [2]सर्प। [3]मन्त्रज्ञ। [4]हथियार।

(४८)

निशेश के सम्मुख अधकार ज्यो,
दिनेश के सम्मुख भूत-प्रेत ज्यो,
जिनेश के सम्मुख वाम-कर्म[1] त्यो
चला गया शीघ्र पलायमान हो ।

(४९)

नरेश के प्रागण[2]-मध्य प्रात से
मृदग-वीणा-ढफ-मोरचग ले
सगीत मे गायक-गायिका लसे
स्व-नृत्त मे नर्तक-नर्तकी पगे ।

(५०)

नृपाल - आनद - समुद्र - वीचियाँ
तुरन्त फैली सब ग्राम-ग्राम मे,
सभी प्रजा हो मुदिता इतस्तत
जिनेन्द्र-जन्मोत्सव थी मना रही ।

(५१)

हिरण्य, हीरा, हय, हस्ति, हेम ले
नृपाल थे याचक-वृन्द तोषते,
स्व-सेवको को बहु दान-मान दे
अनाथ को भी करते स-नाथ थे ।

---

[1] वाम-मार्ग के कर्म । [2] आँगन ।

(५२)

ध्वजा, पताका, स्रग, तोरणादि से
सजा हुआ मंदिर भूमि-पालका
प्रतीत था गायन-नृत्य-वाद्य से
धरित्रि मे सस्थित नाक[1]-लोक-सा।

(५३)

महा-समारोह-मयी सभा लगी
जुड़े कलाकार नृपाल-राज्य के,
दिखा दिखा वे अपनी विशेषता
सभी मनोरंजन में निमग्न थे।

[द्रुतविलंवित]

(५४)

यह समुत्सव आनन्द-उत्स[2] को
प्रवल था करता इस भाँति से
जिस प्रकार सु-मूल्य सुवर्ण का
शुचि-सुगंध वढा सकती सदा।

[वंशस्थ]

(५५)

इसी घडी नर्तक एक आ वहाँ
दिखा चला कौशल स्वीय नृत्य का,
जिनेन्द्र-जन्मोत्सव-दृश्य वाँध के
सभी किये नाटक पूर्व-जन्म के।

---

[1]स्वर्ग। [2]झरना।

(५६)

प्रतीत हो नर्तक कल्प-वृक्ष-सा
बिखेरता था बहु दृश्य-पुष्प सो
युगांघ्रियाँ[1] नर्तित रंग-भूमि में
विमान को भी करती विमान[2] थी ।

(५७)

पुनश्च पुष्पांजलि को बिखेरता
हुआ मुदा ताण्डव-नृत्य-लीन सो,
अपूर्व था नर्तन पूर्व-रंग का
तथैव थी अद्भुत नाटच-प्रक्रिया ।

(५८)

स्व-नेत्र-विक्षेप-समेत नर्तकी
सहायिका थी नट-नृत्य-पूर्ति मे,
स-वेग सचालित हस्त-पाद से
पुन. पुन नर्तन-दत्त-चित्त थी ।

(५९)

कभी दिखाती बहु-रूप-विज्ञता,
कभी लगाती बहुताल योषिता,
कभी घुमाती घन घाँवरा, तथा
कभी मुदा भूषण[3] ही बजा रही ।

---

[1]दोनो जघाएँ । [2]मान-हीन । [3]घुँघरू ।

(६०)

वसुधरा के, वहु अतरिक्ष के
सुदृश्य नाना विधि से दिखा रही,
नटी-नटो के सँग नाचती हुई
लसी सुरो के सँग देवियाँ वहाँ ।

(६१)

जिनेन्द्र-जन्मोत्सव-योजना महा,
न पार पाती जिसका सरस्वती,
अनूप से वर्णन देव-देव के
धरित्रि मे आगम का अशक्य है ।

(६२)

सभी सभा उत्सुक हो उठी, तभी
जिनेन्द्र-सदर्शन-लालसा जगी,
नृपाल-आज्ञा-वश-वर्ति भृत्य भी
गया महाराज्ञि-निकेत को मुदा ।

(६३)

वहाँ विलोका शिशु धाय-वृन्द से
स-प्रेम-सपोपित खेलता हुआ
अनेक क्रीडा-कृत[1] वस्तुएँ वहाँ
रमा रही थी नवजात बाल को ।

---

[1]की ।

(६४)

[प्रसन्न था आनन श्री जिनेन्द्र का,
सुवर्ण-आभूषण हस्त-पाद मे,
किये हुये धारण दिव्य वस्त्र वे
अजस्र दोलायित[1] हो रहे सुधी।]

(६५)

प्रसन्न-आस्या त्रिशला समीप ही
सराहती थी निज भाग्य-सपदा,
निदेश पाके नृप-भृत्य का तभी
चली मुदा ले शिशु स्वीय अक मे।

(६६)

गयी वहाँ पै अति ही प्रसन्न सो,
सुखाक मे बालक खेलता हुआ,
जिसे सभा उत्थित हो विलोकने
लगी मुदा नेत्र-निमेष-हीन हो।

(६७)

अपूर्व था बालक गौर रंग का,
कपोल दोनो ऋतुराज-पुष्प[2]-से,
लसे खिलौने कर में सुवर्ण के
अजस्र-संचालित पाद-युग्म थे।

---

[1]झुलाया जाता हुआ। [2]गुलाब।

(६८)

मनोरमा आनन की प्रसन्नता
अवर्णनीया छवि-युक्त सोहती,
अनूप सद्यागत[1] स्वर्ग की प्रभा
प्रतीत प्रत्यंग विराजती हुई।

(६९)

नृपाल के नेत्र-समान नेत्र थे
लसी, अहो ! भौंह-समान भौंह भी,
परन्तु शोभा हनु[2]-ओष्ठ-भाल की
विराजती थी त्रिशला-मुखाब्ज-सी।

(७०)

जिनेन्द्र के आनन-चन्द्र मे लसी
मनोरमा सु-स्मित-चंद्रिका-प्रभा,
प्रसन्न हो सर्व-सभा-समुद्र का
प्रवृद्ध था मानस-तोप-नीर-सा।

(७१)

विलोक बोला द्रुत एक साधु, जो
महा वयोवृद्ध तथा सु-विज्ञ था,
"नृपाल ! लोकोत्तर[3] पुत्र आपका
अपूर्व होगा बल-कीर्ति-धर्म मे।

---

[1]अभी आये हुये। [2]ठुड्ढी। [3]अलौकिक।

(७२)

"हुआ स्वयं-संस्कृत भूमि-भाग्य से,
समस्त-सस्कार-प्रसाधना वृथा।
शरीर की उत्तम लक्षणावली
बता रही बालक सिद्ध-रूप है।

(७३)

"स्वय सिखेगा यह बोलना, प्रभो!
स्वयं पढेगा, गुरु खोजना वृथा,
स्वय रखेगा निजनाम विश्व मे,
स्वय रचेगा नव धर्म-योजना।

(७४)

"विलोकिये, बालक के मुखाब्ज मे
मनोरमा कोमल भावना भरी,
रहस्य-सयुक्त प्रसन्नता तथा
प्रशसनीया मुसकान-मजुता।

(७५)

"समस्त स्वर्लोक-निविष्ट देवता
महीप! रक्षा शिशु की किया करे,
प्रभूत-सौभाग्य-प्रपूर्ण[1] भाल पै
अजस्र वर्षा वरदान की रहे।

---

[1]अपने ही सस्कारो से सिद्ध।

(७६)

"मनोरमा स्वर्कलिका[1] सु-कोमला
प्रभो ! गिरी है त्रिशला-सुखाङ्क मे,
कि सद्य फूले, अभिताभ हो फले,
मनुष्यता को रस दे स्व-धर्म का ।

(७७)

"विभूति दैवी चल स्वर्ग-लोक से
यहाँ पधारी दृग-सौख्य-दायिनी,
विलोकिये, स-स्मित आस्य पुत्र का
कि सपदा स्वर्गिक मूर्तिमान है ।

(७८)

"चिरायु हो, हे शिशु ! तू स्वदेश का
प्रसिद्ध हो भूप, कुटुम्बवान हो,
प्रसन्न तेरे वदनारविन्द पै
झरे मुदा देव-प्रसाद[2] सर्वदा ।

(७९)

"कुमार ! तू जीवन-द्वार पै खडा
अतीव छोटे कर क्यों हिला रहा !
भविष्य के या कि कपाट खोलता,
कि स्वर्ग को इगित[3] से बता रहा ।

---

[1]स्वर्ग की पुष्प-कली । [2]प्रसन्नता । [3]इशारा ।

(८०)

"कुमार ! तू चंचल नेत्र से मुदा
विलोकता क्या, यह तो बता मुझे,
अलेख्य है जो इतिहास विश्व का
रहस्य या जो अवगाह्य[1] भी नहीं।

(८१)

"कुमार ! तू आनन मे अँगुष्ठ दे
कि सोचता है वह प्रार्थना, जिसे
तुझे पढ़ाया कल था सुरेन्द्र ने
धरित्रि मे आकर भूल-सा गया।

(८२)

"त्वदीय आशा, त्रिशले ! सुभाग्य, या
कुटुम्ब-आनंद, स्वराज्य-सपदा,
त्रिलोक का प्रेम, प्रभाव धर्म का
कुमार के जीवन-मध्य मूर्त है।

(८३)

"नृपाल ! जानो, शिशु गेह-दीप है,
कि छद्म-वेषी[2] प्रभु-मूर्ति ही यही,
दिनेश के अंशु सुवर्ण केश मे,
निशेश की रश्मि मुखारविन्द मे।"

---

[1]थाहने योग्य। [2]कपट-वेषी।

(८४)

पवित्र　वाणी सुन वृद्ध देव की
विनम्र माता शिशु-देह पै　झुकी,
कही लगे दृष्टि न पुत्र को,　अत
निवेश को ले त्रिशला चली गयी।

(८५)

निकेत के प्रांगण मे अजस्र ही
समस्त सेवा नव-जात बाल की
स-प्रेम लाती रहती सहेलियाँ,
अहर्निशा पालन मे प्रसक्त[1] थी।

(८६)

प्रमोद-दाता　　सित-पक्ष-चंद्र-सा
शनैः शनैः वर्द्धित पुत्र-आस्य को
विलोकते ही अति गाढ प्रेम　से
चकोर-से लोचन मातृ के　बने।

(८७)

शनै शनै बालक वर्द्धमान के
मुखाब्ज से नि सृत भारती[2] हुई
विशुद्ध वाणी सुन भूमिपाल भी
महान आश्चर्य्य-समेत खो गये।

---

[1]सलग्न। [2]वाणी।

(८८)

शनै शनै वर्द्धित[1] वर्द्धमान के
पड़े धरा पै पद-युग्म धाम मे,
विलोक आभूषण रत्न से जडे
स-तर्क तारे स्थिर व्योम मे हुये।

(८९)

शनै शनैः विश्व-पदार्थ-ज्ञान भी
अदोष-सम्यक्त्व[2]-समेत आ गया,
शनै शनै राजकुमार की तभी
स्वभावत सात्त्विक बुद्धि भी वढी।

(९०)

शनै शनै सर्व-कला-अभिज्ञता
कुमार को थी हृदयगमा हुई,
समस्त - विद्या - जिन-धर्म - धारणा
शनै शनै ज्ञात हुई स्वय इन्हे।

(९१)

न काल जाते लगता विलव है,
शशी गया तो दिन-नाथ आ गये,
तुरन्त बीते वहु-पक्ष-मास यो
कि देव को अष्टम वर्प भी लगा।

---

[1]बढते हुये। [2]सम्यक् भाव।

(९२)

कुमार - स्वाभाविक - लक्षणावली
विमोहती दर्शक-वृन्द-चित्त थी,
प्रतप्त-हेमाभ[1] शरीर देख के
हुआ सुराधीश सहस्र-नेत्र का।

(९३)

चतुर्दिशा दीपक के पतंग ज्यो,
समतत पकज के मिलिन्द ज्यो,
तथैव चारो दिशि वर्द्धमान के
घिरे हुये थे तन-गुप्त[2] देवता।

(९४)

प्रसन्नता, सुन्दरता, सुभाग्यता,
नृपाल के आँगन मे प्रफुल्ल थी,
विमुग्धता, चचलता, मनस्विता,
कुमार-सेवा करती अजस्र थी।

(९५)

"मदीय आशा, मम भाग्य-सपदा,
मदीय तू प्रीति, मदीय मुग्धता[3],"
इन्हो स्वरो में त्रिशला अहर्निशा
कुमार को थी सहसा पुकारती।

[1]तपे हुये सुवर्ण की शोभा वाला। [2]कपट-वेषी। [3]प्रसन्नता।

(९६)

नरेश-गेह-स्थित ग्रीष्म-काल का
अदीर्घ होता दिन शीतकाल-सा,
प्रसन्नता आयत[1] शीत-काल की
बना रही थी निशि ग्रीष्म-काल-सी ।

[द्रुतविलम्बित]

(९७)

हृदय की प्रति-मूर्ति बहिर्गता
भवन की सुषमा, छवि ईश की,
तनय हो अवतीर्ण[2] हुई, अहो !
शुभ-विदेह-धराधिप-धाम मे ।

---

[1]दीर्घ । [2]उतरी ।

नवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

शनै शनै अष्टम वर्ष भी गया,
कुमार पौगड[1]-दशाधिरूढ थे,
प्रभूत-शारीरिक-कान्ति-युक्त वे
पवित्र वाणी-मन-कर्म से बने ।

(२)

विभूषणो से, व्रत-शील-आदि से,
सभी गुणो से परिपूर्ण शोभते,
समस्त विज्ञान, सभी कला उन्हे
अवाप्त हस्तामलकत्व[2] को हुई ।

(३)

सभी सखा-सग कुमार एकदा
चले, गये बाहर खेलते हुये,
निदाघ[3] का उष्ण प्रभात-काल था,
अरण्य था सुन्दर राजता हुआ ।

---

[1]पांच से दश वर्षकी अवस्था । [2]हाथ में आँवलेके समान ।
[3]ग्रीष्म-ऋतु ।

(४)

सदावगाहक्षत[1] वारि-राशि मे
प्रचंड थे भानु सहस्र-भानु के,
नितान्त दुष्प्रेक्ष्य[2] प्रतप्त व्योम था
महान-कोपाकुल-भूप-आस्य-सा ।

(५)

कही घने भू-रुह नीप[3] क तले
मयूर वैठे दिन काटते लसे,
कही किसी शाद्वल[4] में विराजते
कुरग थे सग कुरंगिनी लिये ।

(६)

अरण्य के माहिप पंक जान के
स्वकीय छायाश्रय ढूंढने लगे,
अलक्त गुंजा लख रक्त-वुन्द-सी
स-भ्रान्ति थे वायस चंचु डालते ।

(७)

करेणु[5] खाता फल सल्लकी मुदा,
वरेणुका[6] थी उसको खिला रही,
समीप ही वारण गर्जते हुये
वना रहे कानन शब्द-युक्त थे ।

---

[1]सदा नहाने के कारण उच्छ्वल । [2]कठिनता से देखा जाने वाला । [3]तमाल । [4]हरी-भरी भूमि । [5]हाथी का बच्चा । [6]हथिनी ।

(८)

प्रचड-मार्तण्ड-प्रताप-पुज से
विभीत हो हस सरोज के तले
स-ताप ले शीत मृणाल[1] चंचु मे
बिता रहे थे दिन ग्रीष्म-काल के।

(९)

कही-कही हंस तडाग-तीर पै,
महान गंभीर जहाँ कमन्ध[2] था,
वही प्रसन्ना ध्वनि थे सुना रहे
विलासिनी-नूपुर-तुल्य मंजुला।

(१०)

कही दुखी-चित्त-प्रतप्त थी धरा,
कही मही थी खल-वाक्य-दाहिनी,
परन्तु धात्रीरुह[3]-पाद-मूल को
अपासुला-सी तजती न छाँह थी।

(११)

अरण्य गभीर अशब्द से कही,
कही महाक्रोश[4]-युता वनस्थली,
कही महा घर्म-प्रतप्त मेदिनी,
कही धरा शीतल नीप-छाँह मे।

[1]कमल-नाल। [2]जल। [3]वृक्ष। [4]शब्द, हल्ला।

(१२)

कही लसी पान्थ-वधू-समान ही
स-दीनता पुष्करिणी दिगन्त मे,
अ-घास[1] श्वेतावर थी मही कही,
अगावली पत्र-विना दिगंवरा ।

(१३)

जिनेन्द्र बोले, "सहचारियो ! लखो,
असह्य कैसी गुरु ग्रीष्म-ताप है,
अरण्य मानो वृष-भानु[2]-ताप से
बना तवा-सा अति ही प्रतप्त है ।

(१४)

"घटी प्रतप्ता सह-चारिणी बनी,
स्फुलिंग-सेना सह-धर्मिणी लसी,
समस्त-धात्री-विजगीषु[3]-वृत्ति से
प्रचड ग्रीष्मर्तु बढी भयावनी ।

(१५)

"प्ररूढ हो कीर्ति-प्रताप-पक्ष पै
पतग[4] का सार्थक नाम हो गया,
प्रकाश का आदिम स्रोत पूर्व से
त्विषा-महा-द्वीप अनत मे बढा ।

---

[1]विना घास की ।　[2]वृष-राशि के सूर्य ।　[3]जीतने की इच्छा वाली ।
[4]सूर्य -(पतग)

(१६)

"प्रकाश का केन्द्र, प्रदीप्ति का धुरा,
त्रिलोक-चूडामणि वार-नाथ[1] है,
प्रचंड होता जब वन्य भूमि मे
दवाग्नि-साम्राज्य प्रसारता यही।

(१७)

"सखे ! विलोको वह दूर सामने
प्रचड दावा[2] जलता अरण्य मे,
चलो, वहाँ के खग-जीव-जन्तु को
सहायता दे, यदि हो सके, अभी।

(१८)

"प्रचड दावानल की शिखा यथा
प्रलंब है धूम नगाधिराज-सा,
अवश्य कोई वन-बीच दुःसहा
महान आपत्ति उपस्थिता हुई।

(१९)

"मनुष्य, पक्षी, कृमि, जीव, जन्तु की
सदैव रक्षा करना स्व-धर्म है,
अतः चलो कानन मे विलोक ले
कि कौन-सी व्याधि प्रवर्द्धमान है।"

---

[1]सूर्य्य। [2]वनाग्नि।

(२०)

जिनेन्द्र-गंभीर-गिरा सुनी जभी
चले सभी शीघ्र घँसे अरण्य मे,
जहाँ बृहत्काय कृपीट[1]-सा खड़ा
सरीसृपाधीश समुच्च शैल-सा ।

(२१)

सहस्र-भोगी[2] द्वि-सहस्र नेत्र का
दृगश्रवा[3]-जृम्भित[4]-आस्य देख के
समस्त साथी भयभीत हो उठे,
तुरन्त भागे वन मे इतस्तत ।

(२२)

मनुष्य को जीवन-भीति स महा
कठोर है मृत्यु-विभीषिका सदा,
विभीत ऐसा द्रुत भागता, कि है
क्षण-प्रभा आकर पाँव चूमती ।

(२३)

निबद्ध होता पद है विभीत का
विराव होता अवरुद्ध कंठ मे,
विभीषिका-संवृत[5] नेत्र-पुत्तली
विलोक पाती जल को न भूमि को ।

---

[1]धूआँ । [2]सहस्र फनवाला । [3]दृग ही है कान जिसके, सर्प । [4]खुला हुआ ।
[5]घिरी हुई बन्द ।

(२४)

स-त्रास साथी सब भागने लगे
पुकारते, "देव, हमे बचाइए,"
त्रिलोक मे एक विभीति ने पुरा
न की समुत्पन्न सुपर्व-कल्पना ?

(२५)

परन्तु साथी अधिकाश मौन थे,
अवाक पीतानन शून्य-संज्ञ-से,
कि मूक पाषाण-मयी विमूर्ति थे
कि मूर्त थे प्रस्तर[1] प्राण-युक्त वे ।

(२६)

बता रहा था भय कप ओष्ठ का,
न शुष्क जिह्वा उनकी चली कभी,
सुपर्व भेजे जब भीष्म[2] दृश्य तो
सखे ! मनुष्योचित कर्म भीति है ।

(२७)

[जिनेन्द्र बोले तब, "साथियो, सुनो !
विभीत होना तुमको न चाहिए,
न जानते क्या तुमसे सभीत हो
समुच्च-भोगी अहि-तर्क-युक्त है ।]

---

[1]पत्थर । [2]भीषण ।

(२८)

"न आत्म-विश्वास तजो कभी, सखे !
समुच्च-शोभी गिर आपका रहे,
जिसे न आँधी बल से झुका सके,
जिसे न पानी जव[1] से बहा सके ।

(२९)

"मनुष्य जो साहसवान वे कभी
विभीत हो दुःख-विपत्ति से नहीं,
विभीषिका का दृढ सामना करे
डरे न आपत्ति, व्यथा, विषाद से ।

(३०)

"मनुष्य जो पूर्ण अभीत-चित्त हो
सदैव आगे बढता अदम्य है,
कदापि शंका करता न साहसी
कि नष्ट होगी न विपत्ति की घटा ।

(३१)

"अतः न भागो, भयभीत साथियो !
करो सभी संचय स्वीय शक्ति का,
स-भीत पाता गति नारकी सदा,
अभीति स्वर्ग-प्रद है मनुष्य को ।

---

[1] वेग ।

(३२)

"जहाँ अकस्मात विपत्ति के लिए
सखे! प्रतीकार अवश्य कार्य[1] हो,
वहाँ अविश्वास अधर्म-मात्र है,
सुविज्ञता भी अति घोर मूर्खता।

(३३)

"विभीत होना न सतर्कता, सखे!
धनी स-कार्पण्य न मित-व्ययी कभी,
अत: तुम्हे कायरता अयोग्य है,
अयुक्त प्रत्यूह[2] विलोक भागना।

(३४)

"सहायता भी मिलती सुरेन्द्र से
उसे कि जो साहस-पूर्ण वीर हो,
धरित्रि मे अध्यवसाय के बिना
न जीव कोई गति उच्च पा सका।

(३५)

"विभीति के कटक मे, विलोक लो,
सुरक्षिता कीर्ति-गुलाब की कली।
विधेय[3] हो जो चुनना उसे, वही
सुमित्र! आवे मम सग शीघ्र ही।"

---

[1]करने योग्य। [2]विघ्न। [3]करने योग्य।

(३६)

जिनेन्द्र ने यो कह मित्र-वर्ग से
स-दर्प बाँधी कटि, सामने बढे,
जहाँ खडा था भुजगेश[1] शैल-सा
अजिह्म जिह्वा द्वि-सहस्र खोल के।

(३७)

अलक्त गुंजा[2]-सम नेत्र क्रोध मे,
कराल नासा-पुट धूम[3] छोडते,
स्फुलिंग-माला मुख से निकालता
खडा हुआ काल-कराल सर्प था।

(३८)

स-वेणु जैसे अहि-तुड गारुडी[4]
करे वशीभूत भुजग-राज को
किया उसी भाँति जिनेन्द्र ने उसे
नितान्त काकोल[5]-विहीन दीन भी।

(३९)

कहा, "चला जा इस वप्र-छिद्र मे,
पुन न आना अब तू अरण्य में,
समूह जो स्थावर-जगमादि के
शरण्य मेरे सब आज से हुये।"

---

[1]सर्पराज। [2]घुंघची। [3]धुआँ। [4]सर्प-पकडने वाला। [5]विप।

(४०)

उसी घडी से जग मे जिनेन्द्र की
सुकीर्ति फैली जन-चित्त-मोहिनी,
न नाम से केवल वर्द्धमान के,
सभी महावीर पुकारने लगे ।

(४१)

विलोक प्रज्ञा-बल-कीर्ति-धैर्य्य को,
सराह श्रद्धा-मय ज्ञान-ध्यान को,
निहार अव्यर्थ-प्रभाव प्रेम को,
जिनेन्द्र की संस्तुति की त्रिलोक ने —

(४२)

"दुखी हुये संप्रति[1] जीव-लोक को
महान आनंद-प्रदान-हेतु ही
प्रभो ! हुये हो अवतीर्ण विश्व मे,
महा-सुधा-दीधिति-बाल-चद्र से ।

(४३)

"अनन्य-स्वामी तुम हो त्रिलोक के
न भूप के ही, चरमेन्द्र के, प्रभो !
अत प्रणेता[2] बन धर्म-तीर्थ के
प्रतीत साकार विरचि आप हों ।

---

[1]इस समय । [2]नेता ।

(४८)

"विभो ! हमारा शतश प्रणाम है,
समक्ष प्राणी नत-शीर्ष आपके,
सदैव आज्ञा-वश-वर्ति जीव को
विमुक्ति का आस्पद[1] दो, दयानिधे !

(४९)

"मनुष्य जो इच्छुक सिद्धि-शान्ति के
सदा लहेंगे वह सौख्य मुक्ति के,
विमोह-आशीविष[2] से गृहीत को
सुधा-समा है भवदीय भारती।

(५०)

"वहित्र रत्न-त्रय से लदा हुआ,
मयूख जो आत्म-प्रकाश का सदा,
प्रदान-कर्ता गुरु-ज्ञान-भाव का,
प्रसिद्ध होगा भवदीय रूप यों।

(५१)

"हुये समुत्पन्न नृ-लोक में, प्रभो !
परार्थ-सिध्यर्थ-समर्थ-भाव से।
विमोक्ष के साधन जीव-लोक के,
सदा समाराधन स्वर्ग्य-लाभ के।

---

[1]स्थान। [2]सर्प।

(५६)

समुच्च आगार नितांत शात था,
समस्त वातायन थे खुले हुये,
समीर की चचल वीचियाँ उन्हे
प्रसन्नता से करती विभोर[1] थी।

(५७)

चला गया शैशव सर्वकाल को
प्रवृत्त कौमार्य्य हुआ जिनेन्द्र का,
परन्तु आती लख यौवनाग्नि को
विचार मे था जरठत्व[2] आ गया।

(५८)

प्रकाशिता यद्यपि ज्ञान-रश्मियाँ
जिनेन्द्र-शीर्षस्थ प्रभूत हो गयी,
परन्तु कादंबिनि[3] भाव-मेघ की
क्षण-प्रभा[4] ले हृदयाब्धि मे उठी।

(५९)

न ध्यान मे संस्तुति थी त्रिलोक की,
विचार मे थी न परार्थ-मुक्ति ही,
जिनेन्द्र यो भाव-प्रवाह मे वहे,
पतंग[5] झझानिल-संग मे यथा।

---

[1]मुग्ध। [2]वृद्धत्व। [3]मेघमाला। [4]विजली। [5]छोटा जन्तु या पतग।

(६४)

"विलोकता पूर्ण शशांक व्योम को
अनभ्र[1] जो, नीलिम जो, प्रशात जो,
प्रकाशता दीप्त दिनेश भूमि को
प्रबुद्ध जो, सुन्दर जो, प्रसन्न जो।

(६५)

"परन्तु भू से, नभ से, दिगन्त से,
अहार्य से, कानन से, चतुष्क[2] से,
प्रभूत कोई सुषमा शनै शनै
चली गयी-सी प्रतिभात हो रही।

(६६)

"स-मोद गाते पिक आम्र-वृक्ष पै
मयूर आनदित नृत्य-लीन है,
प्रमोद सर्वत्र विराजमान है,
परन्तु मेरा मन दु:ख-पूर्ण है।

(६७)

"प्रपात होता जल का महीध्र[3] से,
कदापि मेरे दुख से न रुद्ध है,
वितुड[4] का नाद हुआ वनान्त में
धरित्रि आमोद-प्रपूर्ण हो रही।

---

[1]बिना बादल का। [2]खेत। [3]पर्वत। [4]हाथी।

(९८)

"चतुर्दिशा दृश्य वसंत-काल के
चरित्र में एक प्रमोद यों रहे,
परन्तु कैसा अवसाद[1] चित्त में
उठा, मुझे जो सब भाँति खो रहा?

(७२)

"परन्तु केदार[1] तथैव वृक्ष भी
यही कहानी कहते स-दुःख हैं,
कि सौख्य-कारी दिन वे चले गये,
मिली हमें सु-स्मृति[2], स्वप्न खो गया !

(७३)

"विचारता हूँ यदि मैं प्रशान्त हो,
न जन्म ही व्यक्त, न व्यक्त मृत्यु ही,
नितान्त अज्ञेय, न भूति-[3]गम्य है
मनुष्यके जीवन का रहस्य भी।

(७४)

"अतीत मे जीवन-तारिका-समा
मदीय आत्मा जब स्वर्ग से चली
नितान्त थी सु-स्मृति से न नग्न[4] ही,
स्व-कर्म की पुच्छल ज्योति सग थी।

(७५)

"मनुष्य-आत्मा उस दिव्यलोक से
जभी पधारी महि मे स्व-कर्म से,
चली सु-छाया उस ऊर्ध्व लोक की,
तभी समाच्छादित[5] हो शिशुत्व पै।

---

[1]खेत। [2]स्मरण-शक्ति। [3]अनुभव-गम्य। [4]विना, रिक्त। [5]ढकी हुई।

(७६)

"धरित्रि-कारागृह रूँधता उसे[१]
शनै शनै आवृत जीव को बना,
परन्तु प्राणी लखता प्रकाश जो
चला त्विषाधिष्ठित[२] दिव्य-लोक से ।

(७७)

"प्रकाश सो शैशव मे शनै शनै
सु-दूर होता शिशु वर्द्धमान[३] से
कि अंत मे हो अति दूर सन्य ही
निमग्न होता खलु[४] वार-ज्योति[५] मे ।

(७८)

"धरित्रि भी ले सुख-पुष्प क्रोड मे
उसे लुभाती करती अचेत है,
निसर्ग खेला[६]-हित नव्य वस्तु दे
उसे भुलाता सब स्वप्न पूर्व के ।

(७९)

"मनुष्य होता फलत कुमार सो
पुरा-अभिज्ञात-प्रभाव-हीन हो,
न राज-प्रासाद महेन्द्र-लोक का
पुनश्च आता स्मृति मे कदापि है ।"

---

[१]आत्मा को । [२]प्रकाश से परिपूर्ण । [३]वढते हुये । [४]निश्चय ही । [५]दिन का प्रकाश । [६]खेल ।

(८०)

पड़े-पडे सोच रहे प्रशान्त यों
निमग्न थे राज-कुमार भाव मे
चतुर्दिशा ससृति देखते हुये
उठे दिवा[1]-शैशव-स्वप्न देखते ।

(८१)

उठे तभी वे शयनाक से, चले
इतस्तत मदिर मे शनै शनै,
समीप वातायन के खड़े-खडे
विलोकने प्रागण गेह का लगे ।

(८२)

जहाँ कि दासी स्थित स्वीय पुत्र ले
निवृत्त-कर्तव्य रमा[2] रही उसे,
कुमार था केवल पाँच वर्ष का
प्रसन्न बैठा जननी-समीप ही ।

(८३)

न चेटकी ने निरखा[3] जिनेन्द्र को
स्व-बाल-खेला लखती स-मोद थी,
कुमार को क्रीडन-मग्न देख के
जिनेन्द्र यों भाव-निमग्न हो गये ।

---

[1]दिन (का) । [2]खेला रही । [3]ध्यान से देखा ।

(८४)

विलोकिये, बाल स्वकीय खेल मे
निलीन है, पूर्ण-प्रसन्न-चित्त है,
कपोल है रक्तिम मातृ-प्रीति से
लसा दृगों में वह पितृ-प्रेम है।

(८५)

मनुष्यता-जीवन - स्वप्न - भागिनी[1]
विनिर्मिता नव्य कुमार-हस्त से,
समीप ही क्रीडन-वस्तुएं पड़ी
विनोद की, उत्सव की, विवाह की।

(८६)

मनुष्य की-सी व्यवसाय-बंधना[2]
मनुष्य की-सी रण-रंग-साधना
रमा रही है शिशु-चित्त सर्वथा,
विलोकिये, शैशव खेलता हुआ।

(८७)

नवीन शैलूषक[3] एक खेल में
नहीं विताता वह काल, किन्तु सो
रमा हुआ जीवन रंग-मंच पै
अनेकशः खेल कुमार खेलता।

---

[1]सदृशिनी। [2]कार्य्य-कलाप। [3]नट।

(८८)

असूक्ष्म-आत्मा शिशु ! सूक्ष्म-देह तू
अवश्य है रक्षक पूर्व-दाय[1] का ।
स-नेत्र तू, अंध समाज मे, अत
विलोकता आत्म-पयोधि-वीचियाँ ।

(८९)

महान गंभीर पयोधि विश्व का
अनन्त आत्मा जिसमे भरी हुई,
विलोकता तू शिशु व्यक्त नेत्र से
अतीव अव्यक्त परेश-भावना ।

(९०)

सदैव तेरे अमरत्व की प्रभा
प्रसारती हाथ त्वदीय शीर्ष पै,
अजस्र स्वर्गीय स्वतन्त्रता, सखे ?
अवाप्त है दिव्य स्वभाव से तुझे ।

(९१)

परन्तु क्यो तू इतने प्रयत्न से
बुला रहा सत्वर प्रौढ वर्ष वे
विषाद-दायी युग[2]-भार-तुल्य जो
सदा बनाते पशु-सा मनुष्य को ?

---

[1]उत्तराधिकार । [2]जुआँ, जो बैलके कंधे पर रखा जाता है ।

(९२)

अवश्य ही पार्थिव भार, हे सखे !
तुझे खलेगा व्यवहार विश्व का,
महान गंभीर अगाध सिंधु-सा
तुषार-सा जो गुरु है, असह्य है।

(९३)

अहो ! हमारी इस देह में, सखे !
अनन्त जीवन्त[1] पदार्थ है छिपा,
निसर्ग को जो स्मृत है, परन्तु जो
यहाँ पधारा कब, ज्ञात है नहीं।

(९४)

सुदूर है यद्यपि देव-लोक से,
निसर्ग के तू उदरस्थ आगया;
परन्तु क्या तू शिशु ! जानता उसे
यहाँ उतारा जिस सिंधु ने तुझे ?

(९५)

अनन्त है सिंधु अनादि तोय का,
अगण्य वीची उठती अमाप है,
असंख्य है, [2]'बालक-बालिका' जहाँ
अजस्र क्रीडा-रत जो विनोद में।

---

[1]स-जीव। [2]स्त्री-पुरुष।

(९६)

अत विहगो! चहको, उठो, उडो,
वसन्त का सौख्यद रम्य काल है,
कुरंग कूदे, उछले पतग भी,
कपोत कूजे, कल-कंठ कूक दें।

(९७)

व्यतीत[1] का चिंतन सर्वथा वृथा,
चला गया शैशव, किन्तु क्या हुआ ?
रहा-सहा जो उसको सम्हालना
सदैव कर्तव्य मनुष्य-मात्र का।

(९८)

अवश्य ही जीवन-ध्येय मे यहाँ
अखंड विश्वास प्रशसनीय जो,
विलोकना सम्यक-ज्ञान-दृष्टि से
मनुष्य की प्राथमिका प्रवृत्ति हो।

(९९)

अगो, खगो! यो समझो न चित्त मे
कि है हमारी कम प्रीति-भावना।
विलोकता हू हृदयानुभूति तो
पुरा यथा थे तुम प्रेय हो तथा।

---

[1]अतीतकाल।

(१००)

पड़ा-पड़ा मैं इस राज-धाम में
नहीं तुम्हारा वह प्यार पा सका,
प्रकाश के अंचल से शनैः शनैः
समीर-द्वारा झरता अजस्र जो।

(१०१)

दिनान्त है, पूषण[1] अस्तमान है,
लसी प्रतीची-स्थित मेघ-मंडली,
दिखा-दिखा जो अपनी असारता
मनुष्यता को अमरत्व दे रही।

[द्रुतविलंबित]

(१०२)

जिस प्रकार यती निज श्वास को
कर निरुद्ध त्रिलोक विलोकता,
शमित[2] साध्य-समीर किये हुये
तपन[3] देख रहा महि-व्योम है।

---

[1]सूर्य्य। [2]शान्त। [3]सूर्य्य।

दसवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

समीप ही क्षत्रिय-कुड-ग्राम के
प्रवाहिता थी ऋजु-वालिका नदी,
कभी-कभी वीर कुमार जा वहाँ
प्रसन्न नैसर्गिक दृश्य देखते ।

(२)

हिमाद्रि से उद्गमिता तरगिणी
प्रवाहिता मद-जवा[1] मनोहरा,
प्रभात सध्या ध्वनि नीर की जिसे
बना रही कर्ण-सुखावहा महा ।

(३)

कभी-कभी प्रावृट् मे अधीर हो
स-वेग स्रोती[2] वहती अमद थी,
परन्तु होती अति शान्त अत मे
प्रशान्त रत्नाकर मे प्रविष्ट हो ।

---

[1]मद वेग वाली । [2]नदी ।

(४)

पयस्विनी आश्वनि मास मे कभी
मुदा बजाती परिवादिनी[1] यही
समीर भी ले ध्वनि एक गीत की
तटस्थ शाली-पथ मे बिखेरती ।

(५)

महानदी की कल-नादिनी गिरा
सु-कोमला प्रस्तर-पुंज पेलती[2]
प्रसन्न हो हार-सिंगार-गंध से
स्व-अंक मे उत्पल थी सकेलती ।

(६)

कुमार प्राय उसके समीप जा
विलोकते तुंग-तरंग-भंगिमा,
प्रतीत होती मुख-नेत्र-बिम्ब से
सरोज-शोभा जल मे प्रफुल्लिता ।

(७)

मनुष्य-साधारण-वक्ष मे कहीं
महाविला थी सुषमा मुखाब्ज की,
तटस्थ-शाखी-खग देख, देव को
असंख्य साखी इस तथ्य के हुये ।

---

[1]वीणा । [2]धक्का देती ।

(८)

विधातृ[1] ! दे तू तज गाग नीर को
विहाय कालिन्दि-निकुंज आ यहाँ,
बुला रही हैं ऋजु-वालिका तथा
विहार के वप्र[2] पुकारते तुझे !

(९)

पहाडियो से चल के हिमाद्रि की
विहाय नेपाल-अगावली बढी,
विहार से आ करती विहार है,
पयस्विनी मानस-सत्र[3]-नि सृता ।

(१०)

दिनान्त मे मंजुल ग्रीष्म-काल के
महा मनोज्ञा यह आपगा[4]-तटी
प्रसारती चितन-शील जीव के
विचार का एक प्रवाह चित्त मे ।

(११)

अलक्त अस्तगत सूर्य्य की प्रभा
प्रसूतिनी[5] हो अनुराग-भाव की
वना रही रजित सांध्य-तारिका
पयस्विनी मे प्रतिविविता वनी ।

---

[1]सरस्वती । [2]मैदान । [3]स्तर, तडाग । [4]नदी । [5]जननी ।

(१२)

कही-कही मौक्तिक-सी उडु-प्रभा
खुले दृगो से अवलोकती हुई
बनी वशीभूत-विराग-भावना
अहो ! नदी-अक-निमज्जिता हुई ।

(१३)

कि काटती कानन के तमिस्र को,
कि पाटती स्वर्णिम रश्मि तीर मे,
तरग-मालाऽऽकुलिता तरगिणी
बढा रही क्षत्रिय-कुड की प्रभा ।

(१४)

बही चली जा ऋजु-बालिके ! प्रिये !
बढी चली जा सहसा पयोधिगे !
प्रवाह तेरा कमनीय कान्त है,
समीप तेरा बहुधा प्रशान्त है ।

(१५)

अये ! तुम्हारे तट पै दिनान्त मे
प्रिये ! न चिता-विहगी उडी कभी,
न घूक[1] आये उपकूल[2] रात्रि मे,
न तीर आया भय प्रात-काल मे ।

---

[1] उल्लू । [2] पास ।

(१६)

समीप तेरे सरि ! ग्रीष्म मे कभी
प्रसून से शोभित भूमि-अक मे,
विचारते जीवन के रहस्य को
शयान[1] होते सुख से कुमार है।

(१७)

निदाघ मे तापित तीव्र अशु से
करी[2] यहाँ आ अवगाहते सदा,
अतीव सक्षुब्ध प्रसारती प्रभा
पयस्विनी - तुग - तरग - भगिमा।

(१८)

कभी-कभी पूर्ण-प्रकाश चद्र का
निशा-समुल्लास[3] बिखेरता हुआ,
कुमार के चिंतन-शील चित्त मे
प्रमोद प्यारा भरता अतीव था।

(१९)

अभी पुरी-मदिर-वाद्य प्रात मे
निनादिता थे करते सभी दिशा,
अवश्य आवर्तिनि[4]-अक-बीचि मे
अभूरि आघात प्रचारते रहे।

---

[1]लेटे हुये। [2]हाथी। [3]आनद। [4]नदी।

(२०)

कभी-कभी ले चरवाह वंशिका
प्रसन्न गाते सरि के समीप थे,
कुमार के भी मन मे अनेकश
विशुद्धता-सयुत राग फैलते ।

(२१)

अहर्निशा एक-रसा प्रवाहिता,
महान-पूता, बहु-नीर-सयुता,
अजस्र प्रालेय-गिरीन्द्र-उद्भवा
प्रमोददा थी सरिता कुमार को ।

(२२)

नदी बनी काल-प्रवाह-तुल्य ही
अहर्निशा थी बहती जलोत्तमा ,
अहार्य्य-कन्या अति शक्ति-शालिनी
नदी पयो का सकरोब नाशनी ।

(२४)

नितान्त एकान्त-निवास-सस्पृही[1]
कुमार को थी सरि मोद-दायिनी,
कभी-कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवन का रहस्य थे।

(२५)

दिनेश की वारिद की सुता नदी,
हिमाद्रि की कानन की प्रिया नदी,
अखंड प्रालेय-विनि सृता नदी
बही महावात-प्रकंपिता नदी।

(२६)

कुमार नि सग[2] नदी समीप मे
सदा-महा-चिंतन-शील भाव से
विरक्त-नि श्वास-समेत देखते
तटस्थ-पुष्पावलि घर्म-मूर्च्छिता।

(२७)

महान गभीर तथैव निर्मला,
स-शक्त है किन्तु अमन्यु-भाविनी,
प्रवाह तेरा सरि! श्रीकुमारको
बना समुत्तेजक, किन्तु सात्त्विकी।

---

[1]इच्छुक। [2]अकेले।

(२८)

समीप तेरे निज पक्ष-पात[1] से
विहग होते अति मोद-युक्त हैं,
प्रभात-संध्या स्वर-युक्त गीत से
बना रहे हैं पुलिन[2]-स्थली शुभा।

(२९)

विलोक यों जीवन के प्रवाह को
कुमार ने शान्त स्वभाव से तभी,
स्व-दृष्टि डाली सरि तीर बैठ के
मनुष्य के जीवन के प्रवाह पै।

(३०)

कुमार को षोडश वर्ष हो गये,
विलोकते सर्व प्रपंच विश्व के,
मनुष्य के जीवन की प्रतिक्रिया
हुई सदा मानस[1]-मध्य चित्रिता।

(३१)

पुनश्च सोचा, इस जीव-लोक में
मदीय तो आगम अनन्यार्थ था,
मनुष्य के जीवन को उबारना
अवश्य है अंतिम ध्येय मानसी[1]।

न है तिरस्कृत्य न त्याज्य भी मुझे
मनुष्य-रक्षा अघ[1] से, अधर्म से,
विलोक लूँ जीवन का रहस्य मैं,
विचार लूँ सप्रति भेद विश्व का।

(३३)

मनुष्य विद्यार्चन,[2] अर्थ-अर्जना[3]
शरीर को शाश्वत जान के करे;
परन्तु, त्यागे न कदापि भावना
स्व-धर्म की, जीवन अल्प मान के।

(३४)

न साधु[4] है साहस प्राण त्यागना,
वरंच जीना अति श्रेष्ठ कार्य है,
समाप्ति होती यदि मृत्यु के परे,
अवाप्त होता फिर जन्म ही नही।

(३५)

न ज्ञात है जीवन की समाप्ति में
सुभाग्य है गुप्त, कुभाग्य लुप्त या,
अत सदा आयु-प्रसार-मध्य ही
स्वतत्रता से शुभ कर्म कीजिए।

---

[1]पाप। [2]विद्या की पूजा। [3]कमाना। [4]अच्छा, सुन्दर।

(३६)

विरंचि ने जीवन की कथा लिखी
ललाट में ही जब जन्म-काल से,
न प्राणियों से परिचिन्तनीय है
कि कौन-सी आयु-प्रवाह की दिशा ।

(३७)

बचा जिसे यत्न सका न मृत्यु से,
सु-कर्म से जीवन रक्षणीय है,
सुलभ्य है उत्तम भाग्य-साधना,
अलभ्य है मानुष-जन्म-प्राप्ति भी ।

(३८)

चतुर्दिशा चचल-वायु-तुल्य ही
मनुष्य का जीवन स्थैर्य्य-हीन है,
अवश्य ही आह-कराह जीव की
समीर-सचार-समान स्वल्प है ।

(३९)

सदैव है जीवन प्रेय सर्वथा
धरित्रि में जीवित प्राणि-मात्र को,
विहीन हो कीट-पतग भी सभी
न त्यागना जीवन चाहते कभी ।

(४०)

दया महा उत्तम वस्तु विश्व में,
दया सभी पै करना स्व-धर्म है,
दया बनाती जग सह्य[1] जीव को,
दया दिखाना अति उच्च कर्म है।

(४१)

न अन्न-वस्त्रादिक ही समेटना
विधेय है कार्य्य मनुष्य-मात्र का,
रची गयी जीवन-हेतु वस्तुएँ
न किन्तु जीना[2] इनके लिए कभी।

(४२)

मनुष्य तू मर्त्य, अत विचार ले
अवश्य तेरी कल ही समाप्ति है,
परन्तु धर्माचरणार्थ सोच तू
अवश्य तेरी शत-वर्ष आयु है।

(४३)

धरित्रि है बुद्बुद्, और जीवका
अदीर्घ है जीवन, दीर्घ काल है,
तरंग मे लेखन-तुल्य व्यर्थ है
अदूर-दर्शी नर की क्रिया सभी।

---

[1]सहनीय। [2]जीवन।

(४४)

स्व-कर्म ही किन्तु न मास-वर्ष है,
विचार ही किन्तु न श्वास-मात्र है,
विभावना ही न कि मूर्त देह है,
मनुष्य का जीवन माप-दण्ड है।

(४५)

विचार में जो सब भाँति लीन हो,
निगूढ़ हो सतत स्वानुभूति में,
सदैव जो उत्तम-कार्य्य-लग्न हो,
प्रशस्त जीना उसका यथार्थ है।

(४६)

मनुष्य जो हैं पहचानते मुझे
वही प्रशंसा करते स-प्रेम हैं,
समस्त-संसार-हितार्थ मैं सदा
स्व-जन्म लेता करता सुकर्म हूँ।

(४७)

समुद्र-पृथ्वी-तल के लिए, तथा
प्रसन्न-आकाश-हितार्थ मैं सदा
स्व-जन्म लेता कर धर्म-पालना
प्रकाश देना, हर अन्धकार को।

(४८)

मनुष्य का जीवन-कार्य्य तत्त्वत
विनम्रता का अति दीर्घ पाठ है,
यथार्थ देखो, भव की समाप्ति से
न न्यून है जीवन की विभीषिका[1]।

(४९)

सभी यहाँ जीवन-मार्ग-पान्थ है
चले सभी है निज जन्म-प्रात से,
स्व-मृत्यु-सध्या तक यो चले चलो,
न दूर-यात्रा-श्रम हो, मुझे भजो।

(५०)

न भक्ति हो तो इस जीव-लोक मे
मनुष्य को सभव एक दु ख . है,
महान है जीवन की विपत्ति भी
तथैव देहान्त महाभिशाप है।

(५१)

न विश्व मे वीर मनुष्य की कमी,
न न्यूनता है जन साधु सौम्य की,
अत सभी के प्रति प्रेम-भाव हो,
सभी करेगे नर प्रेम आप से।

---

[1]भय।

(५२)

न जीवनाशा[1] इतनी तमिस्र है
मनुष्य जैसी उसको बखानते;
प्रभात-कालीन पयोद-वर्षणा
कभी-कभी वासर स्वच्छ ला सकी।

(५३)

यथैव वर्षा, फिर ताप घर्म की,
पुनश्च झोंके सुखदा समीर के,
तथा वनो मे मृदुता-प्रसार भी
तदा अगो मे सहनीय उष्णता।

(५४)

तथैव आसक्ति[2] प्रतीति-रीति भी
पुनश्च रागान्वित स्वप्न-भावना।
विलोक के जीवन-क्षेत्र-शुष्कता
बनी महा सौख्यद सद्यतामयी[3]।

(५५)

सु-काल-सा जीवन ! तू विस्मय है,
प्रभात तेरा कितना सुरम्य है;
अरण्य-केदार-नदी-अहार्य[4] से
समीप ही यौवन रम्यमाण है।

---

[1]जीने की इच्छा। [2]संलग्नता। [3]ताजगी। [4]पर्वत।

(५६)

समस्त एकत्रित वस्तुएँ हुयी
मनुष्य के जीवन-केन्द्र मे, अहो !
न रोदसी-अबर-भूमि मे, लखो
समीर को, दीधिति को, पलाश को ।

(५७)

अधूलि है जीवन-मार्ग क्लिष्ट है,
खिचा अहो ! मै किस ओर जा रहा,
हितार्थ मेरे अवशेष क्या रहा ?
न रंच भी, सत्रह वर्ष हो गये ।

(५८)

अहो ! द्विधा जागृति है मनुष्य की
सुषुप्ति की सस्कृति अन्य वस्तु है,
नितान्त ही जीवन और मृत्यु की
न स्वप्न-सीमा परिलेखनीय है ।

(५९)

मनुष्य जो आयुष उत्तरार्द्ध, सो
सदा बनाता सुविलम्ब-गामिनी,
परन्तु पूर्वार्द्ध प्रमोद-युक्त जो
अजस्र देता द्रुत-गामिता उसे—

(९०)

धरित्रि में जीवन की क्षण-प्रभा
दबा रही है नर शाश्वती-समा[1]
व्यतीत होती यदि भद्र-भाविनी
सु-काव्य है आयुष भव्य जीवका।

(९१)

धरित्रि में आकर रो उठा जभी
मनुष्य है जीवित जानते उसे,
तथैव ले दो हिचकी चला गया,
समस्त प्राणी मृत मानते उसे।

(९२)

निसर्ग से जीवन प्राप्त जो हुआ
अदीर्घ है, अस्थिर है, अपूर्ण है,
व्यतीत जो उत्तम भाँति से हुआ
सु-दीर्घ है, शाश्वत है, प्रपूर्ण है।

(९३)

निसर्ग ने जीवन को उधार में
दिया हमें है बन उत्तमर्ण[2] हो,
किया नहीं निश्चित किन्तु दैव ने
कि है चुकाना किस काल में उसे।

---

[1]दीर्घ-काल तक। [2]साहूकार।

(६४)

कलक से जीवन हीन जो हुआ
सधे विनिर्विघ्न[1] समस्त कर्म जो,
मनुष्य का सार्थक जन्म हो गया,
अशोच्य है देह-निपात भी उसे।

(६५)

समस्त भू को पहचानना तथा
समस्त को सादर दृष्टि देखना।
समस्त-प्राणी-प्रति प्रेम मानना,
प्रशस्त है जीवन-ध्येय जीव का।

(६६)

शरीर हूँ मै यह तथ्य[2] है नही,
शरीर मे हूँ, यह नित्य सत्य है,
शरीर-सपात न मृत्यु जीव की,
अशोच्य तो शोच्य न प्रज्ञ जीव से।

(६७)

न धर्म से आवृत कार्य्य हो जहाँ,
न कर्म से सवृत धर्म-भाव हो,
जहाँ न हो भक्ति, न देव-अर्चना
वहाँ सभी जीवन मृत्यु-तुल्य है।

---

[1]कुशलता से। [2]सत्य।

(६८)

धरित्रि में कर्म-निबद्ध जीव का
अवश्य जीना, मरना अवश्य है,
जिये भली भाँति इसीलिये कि जो
मरे भली भाँति, न सत्य अन्यथा।

(६९)

न छीनिए जीवन प्राणवान का,
न दे सकोगे नव प्राण जीव को,
धरित्रि है जीवन के लिए सदा
यहाँ सभी के अधिकार तुल्य हैं।

(७०)

मनुष्य यात्री निज-कर्म-मार्ग के
कुटी-सभा में कुछ काल के लिए,
दिनान्त आया कि रुके कहीं-यहीं,
निशान्त आया कि गये यहीं कहीं।

(७१)

यहाँ पधारे तब आप नग्न थे,
वहाँ सिधारे तब मोह-मग्न थे,
अपाय[1] से जीवन में न मुक्त थे,
उपाय क्या सार्थक मृत्यु से परे?

---

[1]विघ्न।

(७२)

सुखी भले ही करि पै सवार हो,
दुखी भले पाँव घसीटते चले,
परन्तु जाते सब हैं वही जहाँ
विभेद है भूपति मे न रंक मे ।

(७३)

अ-सार है जीवन जीव-लोक मे,
स-सार देखो युग वस्तुएं यहाँ,
स्व-दुःख मे साहस-पूर्ण भावना,
दया दिखाना पर दुःख मे सदा ।

(७४)

कहाँ गया कोकिल वीत वर्ष का,
कहाँ गयी शुष्क प्रसून-गंध भी,
कहाँ गया स्वाति-पयोद-बुन्द, या
कहाँ गया जीवन-प्रेम-पात्र भी ।

(७५)

धरित्रि मेला, मिलते जहाँ सभी,
धरित्रि खेला सब खेलते जहाँ,
रुका न कोई जग-पण्य[1]-भूमि मे
चले गये बालक खेलते हुये ।

---

[1]बाज़ार ।

(७६)

वने महाद्वीप भविष्य-भूत के
सुमध्य मे जीवन अन्तरीप-सा,
सम्हाल ले जो पथ वर्तमान का
वही अलक्ष्येन्द्र[1]-समान ख्यात हो।

(७७)

लिये चले जीवन-भार शीस पै,
झुके, रुके जो न कदापि मार्ग मे,
यही सुखी सवल[2]-युक्त अंत में
प्रसिद्ध साफल्य-सखा हुआ यहाँ।

(७८)

हुआ करे लोमश-सा प्रवृद्ध या
वना करे रावण-सा सुविक्रमी,
परन्तु हो जीवन साधु राम-सा
स्वकीय-कल्याण-विधान-सुस्पृही।

(७९)

प्रकाश ही हो अथवा तमिस्र हो,
सुभाग्य ही हो अथवा कुस्वप्न हो,
प्रकंप-संयुक्त कि स्थैर्य-युक्त हो,
परन्तु हो जीवन जीविताश्रयी[3]।

---

[1]सिकन्दर बादशाह। [2]मार्ग का पाथेय। [3]जीविका [illegible] लेनेवाला।

(८०)

न प्राण लेना अति क्लिष्ट कार्य है,
पिपीलिका भी डसती करीन्द्र को,
परन्तु देना वश मे न अन्य के
नरेन्द्र के या कि नरेन्द्र-नाथ[1] के।

(८१)

समस्त जो जीवन-रत्न है यहाँ
पिरो सका जीवन एक ताग मे,
मनुष्य आता जल के प्रवाह-सा,
तथैव जाता गति-सा समीर की।

(८२)

मरुस्थ कासार मिला जहाँ रुक,
पिया वही नीर स्व-मार्ग मे चले,
अनिश्चिता आगम की दिशा यहाँ
कहाँ गये स्थानक[2] इष्ट है नही।

(८३)

अहर्निशा की शतरज है बिछी,
नरेश-प्यादे सब खेल-वस्तु है,
गये चलाये कुछ देर के लिए,
हुये इकट्ठे फिर एक ठौर मे।

---

[1]सम्राट्। [2]स्थान।

(८४)

पयस्य टूटी शिविरस्थली मही,
स-सैन्य आये नृप के समूह भी,
रुके यहाँ केवल एक रात्रि ही
विलोक सूर्य्योदय वे चले गये।

(८५)

मनुष्य का जीवन एक पुष्प है,
प्रफुल्ल होता यह है प्रभात में,
परन्तु छाया लख सांध्य काल की
विकीर्ण[1] होके गिरता दिनान्त में।

(८६)

मनुष्य का जीवन रंग-भूमि है,
जहाँ दिखाते सब पात्र खेल हैं,
जभी हिलाया कर सूत्र-धार ने
हुआ पटाक्षेप तुरन्त मृत्यु का।

(८७)

निसर्ग ने दिव्य विभूति जीव को
प्रदान की जीवन की अदीर्घता,
परन्तु जो जीवन मृत्यु ने दिया
सु-दीर्घ है, शाश्वत है, अनन्त है।

---

[1]विशृंखलित।

(८८)

इतस्तत जीवन-सिधु-वक्ष पै
मनुष्य खेते अपनी तरी यहाँ,
समीप दिग्सूचक-यत्र ज्ञान है,
अदूर है भाव-समीर-वीचियाँ।

(८९)

भरा हुआ जीवन के शराव[1] मे
प्रमोद है, है सम-भाव दुख भी,
परन्तु है एक विचार-मात्र ही,
द्वितीय तो एक विचार-पात्र है।

(९०)

सदा सभी की दशद्वार देह मे
न प्राण-पक्षी करता निवास है,
रहा, वही जीवन है मनुष्य का,
गया, वही मृत्यु कही गयी यहाँ।

(९१)

स-दुख है जो जन श्वास ले रहा,
स-क्लेश है जो नर ज्ञान-युक्त है,
न क्लेश है और न दुख है उसे
हुआ समुत्पन्न मनुष्य जो नही।

---

[1] ...ाला।

(९२)

मनुष्य का जीवन यो अदीर्घ है,
नितान्त ढाई क्षण का बना हुआ,
मुहूर्त रो लो, हँस लो अदिष्ट[1]ही,
प्रदत्त आधा पल प्रेम के लिए।

(९३)

मनुष्य का जीवन है वसन्त-सा,
हिमर्तु प्रारंभ, निदाघ अंत मे,
जहाँ सदा भाव-प्रसून फूलते
विचार के भी फलते प्रतान[2] है।

(९४)

लिया जभी जन्म, तुरन्त रो उठे,
विलोक पृथ्वी हँसने लगे तथा,
मुहूर्त जागे, क्षण-एक मो, उठे,
सुदीर्घ सोये, तब जागना कहाँ ?

(९५)

मनुष्य का जन्म प्रभात-काल है,
तथैव है जीवन एक बार का,
तुरन्त आती दुपहरी दिनान्त है,
सवेग आती फिर मृत्यु-यामिनी।

---

[1]मुहूर्त, क्षण, पल। [2]लता।

(९६)

मनुष्य का जीवन लौह-तुल्य है,
गया निकाला तम-पूर्ण खान से,
जभी तपाया जग की भयाग्नि मे
कि जा बुझा दु ख-दृगम्बु मे, अहो ।

(९७)

मनुष्य का जीवन दीर्घ-काय है,
उसे कि जो क्लेशित हो, स-दु ख हो,
परन्तु है सूक्ष्म, अदीर्घ भी उसे,
जिसे न आनन्द-प्रमोद त्यागते ।

(९८)

समीर से चालित कज-पत्र पै
यथैव है जीवन-बुन्द नाचता,
तथा किनारे पर काल के, लखो
अजस्र ही जीवन नृत्य-लीन है ।

(९९)

सुदीर्घ जीना न प्रशसनीय है,
अदीर्घ जीना परिशंसनीय भी,
सुदीर्घ लज्जा जिसको न चाहिये
अदीर्घ ही जीवन श्लाघ्य[1] है उसे ।

---

[1] इच्छित ।

(१००)

प्रवृत्त होते क्षण मे, मुहूर्त मे,
सुजीर्ण होते पल मे, अदिष्ट[1] मे,
कि आ गया अतिम काल दड[2] मे,
गया कि मारा नर काल-दड से ।

(१०१)

खडे-खडे जीवन अन्तरीप पै,
विलोकिये क्यो न अपार सिधु दो,
रचे हुए स्वर्ग-अस्वर्ग देखिये,
खुले हुये दक्षिण-वाम नेत्र मे ।

(१०२)

वही यहाँ जीवित[1], कीर्ति-युक्त जो,
वही यहाँ जीवित है, यशस्वि जो,
अकीर्ति-सयुक्त यशस्विता बिना
मनुष्य का जीवन मृत्यु-तुल्य है ।

[द्रुतविलंबित]

(१०३)

रसवती जिसकी मृदु भारती,
गृह-वधू सुत पुत्रवती सती,
बहुल-दानवती कर नगन,
सफल-जीवन है वह ही गृही ।

---

[1]क्षण । [2]मुहूर्त । [1]जीवन का जीता हुआ

(१०४)

फलवती जिसकी तप-साधना,
विपुल ज्ञानवती गति बुद्धि की,
गृह-वधू बन मुक्ति विराजती,
सफल-जीवन है वह ही यती।

ग्यारहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

दिनान्त था, पश्चिम मे दिनेश के
मयूख सारे कुछ ताम्र हो चले,
समीर धीरे वहने लगा तथा
विहंग वृक्षो पर शब्द-युक्त थे।

(२)

प्रशान्त था, वासर जेष्ठ-मास का
तपा मही पै रवि पूर्ण-तेज से,
परन्तु सध्या जिस काल आ गयी
दिनेश अस्ताचल को चला तभी।

(३)

विलोकिये पूषण[1] दग्ध हो रहा
अहो! चिता पै न धरा गया अभी,
सुभीरु[2] छाया अति मूर्छिता बनी
नितान्त ही पूर्व-प्रलम्बिनी हुई।

---

[1]सूर्य्य। [2]डरी हुई।

(४)

पयोद मे निर्मित ज्योति-मार्ग पै
न तू गिरे, रोदन मे न लीन हो,
भयद तेरी न चिता विभासती[1]
प्रशान्त जा तू, उगना प्रभात में ।

(५)

समीर के शीतल वेग से हुई
महानदी की कुछ शीत रेणुका,
वही-कही राजकुमार बैठ के
विलोकते थे अवसान वार का ।

(६)

धरित्रि के पश्चिम दिग्विभाग मे
हरे-हरे वृक्ष-समूह-पृष्ठ पै
पयाल[2] का पुंज प्रदह्यमान-सा
दिनेश का मंडल अस्त हो रहा ।

(७)

लसे नभोमंडल-तुल्य सिंधु में
पयोद के द्वीप-समूह हो गया,
उदीयमाना जिनके सु-मध्य में
प्रदीप्त थी रक्तिम एक तारिका ।

---

[1]दिपती, प्रकाशती । [2]धान्य का भूसा या घास पै रखे हुए ।

(८)

दिनेश वाजीगर-तुल्य भूमि पै
स्व-रश्मियों की लकडी घुमा रहा,
अरण्य, कासार, महीध्र, व्योम भी
समस्त एकीकृत हो गये तभी ।

(९)

दिनेश विश्रान्त महीप-तुल्य ही
स्वकीय अस्ताचल के निवेश मे
दिनान्त मे वायु-तरग ले रहा
चतुर्दिशा सेवक मेघ-यूथ थे ।

(१०)

कभी-कभी मेघ-समूह चीरता
बिखरता सूर्य्य-प्रकाश विश्व पै,
निसर्ग सारा हँस के हँसा रहा
प्रवाल[1]-सा पश्चिम ओर जा रहा ।

(११)

अहो, अहो ! आज दिनान्तमे, कहो,
दिनेश लज्जा-वश क्यो अलक्त है ?
त्रिलोक के जीव-समूह का लखा
कि निंद्य ही सर्व-क्रिया-कलाप है ।

---

[1] मूँगा ।

(१२)

कि यान सारे दिन व्योम मे चला
धुरा हुआ तप्त मरीचि-युक्त है,
वना रहा शीतल सिंधु मे जिसे,
इसीलिए व्यग्र अनूरु-सारथी'।

(१३)

मरीचियाँ पूपण अस्तमान की
गिरीन्द्र-शीर्षस्थ सु-रंग सोहती,
कि यामिनी-स्वागत-हेतु हो रही
समुद्गता सुन्दर रत्न-मालिका।

(१४)

नितान्त ऐसे वह भाव चित्त को
कुमार के चंचल ये बना रहे,
कभी-कभी आनन मोड़ पूर्व में
विलोकते थे ऋजुवालिका-तटी।

(१५)

दि[illegible] पता पी[illegible] के त[illegible] यही
कहीं नदी का वह घाट भी [illegible],
जहाँ पुरी के [illegible] [illegible]-[illegible] लो
जगा रहे थे मन [illegible] में।

'सूर्य ।

(१६)

बँधे हुये थे मृत-पात्र वृक्ष मे
लगी हुई थी बहु भस्म तीर ही,
कही-कही अर्ध-विदग्ध दारु[1] के
समूह भी खडित थे पड़े हुये।

(१७)

श्मशान का नाम भयद है महा
मनुष्य होते सुनके महा दुखी,
निसर्ग मानो भयभीत हो स्वयं,
स्वकीय सस्थैर्य्य[2] बिखेरता यहाँ।

(१८)

अवश्य भस्मात शरीर है यहाँ
समस्त नारी-नर क्षार हो गये,
जले यही उद्भट, भीरु, नारकी,
मनुष्य स्वर्गीय समृद्ध, रक भी।

(१९)

नरेश, तू मूर्ख, तुझे न चाहिये
धरित्रि, ले तू महि चार हाथ की;
न चाहिये अंशुक-भूषणादि भी
सुवर्ण थोडा, लघु वस्त्र इष्ट है।

---

[1]लकड़ी। [2]स्थिरता।

(२०)

(चला बँधे हाथ मनुष्य विश्व को,
विता दिया जीवन चार साँस ले,
चला खुले हाथ जभी श्मशान को,
खुला सभी जीवन का रहस्य भी ।)

(२१)

कभी-कभी अंतिम वस्त्र' को उठा
जभी विलोका मुख देह-शेष का,
लखा जरा-जीर्ण शरीर प्रेत का,
गया तिरस्कार किया स्व-वपु से ।

(२२)

पड़ी हुयी हैं कुछ श्वेत अस्थियाँ
दिनान्त में धूमिल जो विभासती ।
विचार मेरे थक-से गये, तथा
अजस्र देती यह ठोकरें उन्हें ।

(२३)

प्रभात की पूषण-रश्मियाँ यहाँ
सदा गिराती कुछ बुन्द ओस के,
परन्तु ज्यों भस्म विलोकती उन्हें
अदृष्ट होते वह भस्ममान' हो ।

(२४)

सभी थके मानव शान्ति पा सके,
अशान्त जो दानव शान्ति पा सके,
यही—इसी स्थान विशेष मे—सदा
पुकारते लोग जिसे श्मशान है।

(२५)

यही सभी मानव ऐक्य-भाव से,
प्रशान्त यात्री सब मृत्यु-मार्ग के,
अदृष्ट होते उस दीर्घ पथ मे
जहाँ न चर्चा पुनरागमादि की।

(२६)

यही चिता, भीतिद[1] काल-द्वार जो,
सनातनी नीद मनुष्य की यही—
विचार, है भाव यहाँ न अन्य है
अवाप्त होता अतिरिक्त भस्म के।

(२७)

मनुष्य का जीवन नाट्य-भूमि है,
प्रवेश-निर्वेश बने हुये जहाँ,
अवाप्त होती उसको स्व-कर्म से
शिशुत्व - तारुण्य - जरत्व -पात्रता।

---

[1]भयकर।

(२८)

मनुष्य बालारुण-सा उगा, जगी
पयोज[1]-नेत्रा-सरसी-प्रसन्नता ;
प्रगल्भता[2]-प्राप्त हुआ कि आ गयी
सरोज-संध्यारुण मे विषण्णता।

(२९)

मनुष्य जीना वह काल चाहता,
न वृद्ध होना वह याचता कभी,
गयी, न आयी युवती[1] दशा वही,
न आ गयी, है जरठा[2] दशा वही।

(३०)

न देह होती लकुटावलंबिता,
न ज्योति अस्पष्ट अदीर्घ नेत्र में,
न हास्य में कुंठितता विराजती,
न प्राप्त होती यदि वृद्धता हमे।

(३१)

न आह होती नर की गभीर जो,
कराह मे भी कटुता न व्यापती,
न देह की जर्जरता व्यथोहली,
न प्राप्त होता स्थविरत्व[1] जीव को।

(३२)

मनुष्य चाहे जितना सुखी रहे,
अनन्त चाहे उसका प्रमोद हो,
समाप्त आशा उसकी हुई जभी,
ज्वरा[1] तभी आकर कंठ दाबती।

(३३)

चतुर्दिशा मे धुँधला प्रकाश हो,
प्रलम्ब छाया गिर भूमि मे पडे,
थकान हो, निर्बलता महान हो,
विचार देखो, तब मृत्यु आ गयी।

(३४)

तरंगिता काल-नदी बही तथा
अनन्त-धामाम्बुधि[2] पास आ गया,
बचा सका, हा! तृण भी न दड का
मनुष्य डूबा सहसा भवाब्धि मे।

(३५)

कि जर्जरा जीवन की तरी चली
तरंग-सपूरित काल-सिधु मे,
थपेड कर्मास्रिव-नीर की लगी
तुरन्त डूबी वह मृत्यु-घाट मे।

---

[1]मृत्यु। [2]अनन्त तेज का समुद्र अथवा अनन्त स्थानवाला समुद्र

(३६)

करे प्रशंसा अति ही मुनीन्द्र या
कवीन्द्र चाहे रच दें गुणावली,
सुकीर्तिता शेष-सहस्र-मौलि से,
भले रहे, किन्तु जना विदूष्य[1] है।

(३७)

मनुष्य का यौवन भूल से भरा,
तथा प्रगल्भत्व त्रिशूल से भरा,
जरत्व भी निष्प्रभ धूल से भरा,
मरुस्थ भू-खंड बबूल से भरा।

(३८)

मनुष्य है जीवन-जात[2] कंज-सा
प्रफुल्ल आरम्भ सु-रम्य भासता
परन्तु होता असु[3]-हीन शीघ्र ही,
विनष्ट होते बन शुष्क पत्र भी।

(४०)

विलोकिये, सूर्य्य प्रभात, द्वार से
चला समावेष्टित[1] कीर्ति-पुंज मे,
परन्तु जा पश्चिम दिग्विभाग मे
न व्योम को, भू-तल मे चला गया ।

(४१)

प्रकपकारी यम की अनीक[2] के
उठे जरा में कच श्वेत केतु-से,
अजस्र ही यद्यपि युद्ध-लग्न है,
परन्तु तो भी नर-देह हारती ।

(४२)

शरीर के पंजर मे फँसे हुये
विपन्न,[3] मारे पर, प्राण-वायु ने,
तुरन्त उड्डीन[4] हुआ, स्वतंत्र हो,
चला न जाने किस द्वार से गया ।

(४३)

यथा डराता डर मृत्यु का हमे,
तथा न देती भय मृत्यु भी कभी,
स-तर्क पूछो यदि प्रेत-जीव से
भय-प्रदा मृत्यु, यथैव जन्म है ।

---

[1]घिरा हुआ, लिपटा हुआ । [2]सेना । [3]विपत्ति-युक्त । [4]उड़ा ।

(४४)

यथा तमिस्रा भयदा किशोर को,
तथैव है मृत्यु भयंद जीव को,
समान ही अत्यय' की, तमिस्र की,
कथा अश्रव्या नर भीत के लिए।

(४५)

विलीन होता जब ग्रीष्म-मेघ है,
प्रशान्त होता जब साव्य वायु है,
निलीन होती तट की तरंग भी,
निमीलिनाक्षी बनती दिन-प्रभा।

(४६)

प्रशान्त शूली पर मृत्यु भेंट ले
नितान्त त्यागे तन युद्ध-भूमि में,
मनुष्य के हेतु मरे मनुष्य तो
सुयोग्य संस्थान समाप्ति का यही।

(४७)

पुकार तेरी अति दुःखदा उसे,
प्रसन्न जो प्राप्त पदार्थ में यहाँ,
मनुष्य संनद्ध' न मृत्यु के लिये,
न प्राप्त आगामि-भवाब्धि की तरी।

(४८)

अवश्य ही मृत्यु भय-प्रदा उसे
खड़ा किनारे पर जो भवाब्धि के,
न लौट कोई जन दे सका पता
पयोधि-गांभीर्य्य, धरित्रि-व्यास का।

(४९)

अदीर्घ है जीवन दुःख से भरा,
प्रसून फूला, मुरझा गया यथा,
प्रभात में आकर ओस-बुंद-सा
सरोज को कान्त किया, चला गया।

(५०)

समृद्धि की, यौवन की, सँगीत की,
विहार की, उत्सव की, प्रशान्ति की,
प्रतानिनी[1] से चल मृत्यु-सर्पिणी
प्रसह्य पीती जन-प्राण-वायु है।

(५१)

समस्त भू के बहु भोग से अभी
थका न था जीव, परन्तु मृत्यु ने,
स-वेग खीचा पर-लोक को जहाँ
नितान्त-एकान्त-प्रशान्त-भूमि है।

---

[1]लता।

(५२)

प्रकाश से उद्गम अन्धकार का,
विमूढ़ता-निर्गम ज्ञान से जहाँ,
हुई समुत्सारित हानि-लाभ से
कही गयी मृत्यु धरित्रि में वही।

(५३)

लपेट लो विष्टर[1] स्वीय देह में
अनन्त-स्वप्न-स्थित चित्त को करो,
प्रशान्त सो लो उस मृत्यु-भूमि में
असंख्य प्राणी जिसमें शयान[2] हैं।

(५४)

धरित्रि के दुःख-विषाद-शोक में
प्रशान्ति पाते नर मृत्यु-धाम में,
जहाँ हवा काल-विहग-पक्ष की
उन्हें झुलाती व्यजनानुचारिणी[3]।

(५५)

प्रभो ! महा-दुःख-प्रपूर्ण दृश्य है,
कि अन्त में प्राण उड़े मनुष्य के
किसी दशा में (यह जानना वृथा)
किसी दिशा में (यह सोचना वृथा)।

---

[1]बिस्तर। [2]लेटे हुये। [3]पंखा के समान।

(५६)

उगा करे या कि दिनेश अस्त हो,
उठा करे मेघ समाप्त हो न हो,
न प्राणियो का उदयास्त शक्य है,
सदैव है जीवन-मृत्यु से घिरा ।

(५७)

शरीर मे विस्मृति मृत्यु ने भरा
मनुष्य का जीव गया द्यु-लोक को,
परन्तु तो भी मृत सो हुआ नही
समाप्ति मे जागृत स्वप्न हो गया ।

(५८)

समाप्त ऐसी स्मृति कौन जो न हो,
समाप्त ऐसा दुख कौन जो न हो,
परन्तु जाती स्मृति काल-धर्म से,
प्रशान्त होता दुख काल-कर्म से ।

(५९)

मनुष्य जो जीवन मे थका, वही
गिरा, चला हो मृत अन्य लोक को,
विहाय भू को शिविर[1] स्थली-समा
न गेह-सी छोड गया द्युलोक को ।

---

[1]निवास-स्थान ।

(६०)

न मृत्यु से जो डरता कदापि है,
मरे, न चिंता कुछ भी कभी उसे,
महान है वीर वही मनुष्य जो
रहे सदा जीवित मृत्यु के परे।

(६१)

विचारिये सम्प्रति, लोक-नाथ[1] की
बिना अनुज्ञा[2] डसती न मृत्यु है,
मिली जभी शिष्टि[3] प्रयाण के लिए
खुले सहस्रों पथ-द्वार शीघ्र ही।

(६२)

अकाल की मृत्यु विलोक दुःख से
मनुष्य रोते मति-हीन सर्वथा,
किया गया निश्चित मृत्यु-काल क्या ?
कही गयी विज्ञ अकालसी[4] न क्या ?

(६३)

शनै शनै आ मार्जारी[5]-समान या
कि सिंहिनी-सी अति शीघ्र टूटती,
न मृत्यु का आगम चिन्तनीय है,
विचिन्त्य है आगम का प्रकार ही।

---

[1] [illegible]। [2] आज्ञा। [3] आज्ञा। [4] बिना समय ([illegible] [5] [illegible] ([illegible]) की तरह।

(६४)

कहा तुम्हारा अयि मृत्यु ! डंक है ?
चिता तुम्हारी जय ! है कहाँ, अये ?
विभीत जो सम्यक मृत्यु से न हो,
चिता-नदी-भूमि समान है उसे।

(६५)

समृद्धि मे पंख लगे हुए मिले,
मनुष्य का कीर्ति-प्रसार स्वप्न है,
समाधि पाते नृप भोगिराज[1] है
चिता जगाते नर योगिराज है।

(६६)

जभी हुआ निश्चय जन्म-काल का
चले जभी प्राण, अ-सार हो गये,
प्रदीप्ति[2]-पृथ्वी-जल-वायु-व्योम भी
सभी यथा-काल हुये पृथक्-पृथक्।

(६७)

अहो ! किसी के दश शीस क्यो न हो,
प्रताप-शाली कर बीस क्यो न हो,
कहो छिपी सूक्ष्म-शरीर मृत्यु, जो
जगज्जयी जीत सका न जेय[3] है।

---

[1]अत्यन्त भोग-विलास करने वाले। [2]अग्नि। [3]जीतने योग्य।

(६८)

पुकारते मृत्यु जिसे मनुष्य है,
तृतीय[1] है जन्म वही कहा गया,
जिन्हे हुआ रूप-रहस्य-ज्ञान वे
न मोहते पडित नाम-भेद से।

(६९)

निपात छूटा कि प्ररोह आ गया,
तमिस्र टूटा कि प्रकाश छा गया,
रहा न अक्षुण्ण प्रमाद मृत्यु का,
गया न तो भी भय जीव-लोक का।

(७०)

शरीर मे तस्कर-तुल्य मृत्यु आ
न खीचती केवल श्वास-अर्गला,
वरंच ताली[2] नव-जन्म की लगा
दिखा रही नूतन आत्म-धाम है।

(७२)

प्रसून जैसे खिल शुष्क हो गया,
गिरा, हुआ शोषित ओस-बुन्द भी,
तथैव प्राणी जब जन्म ले मरा,
गया न जाने किस देश-काल मे।

(७३)

मनुष्य जाता पशु नीयमान[1]-सा
विभीत होता लख मृत्यु-वेदिका,
हुआ नही सिंचित मन्त्र-नीर से
कि मृत्यु से भी वह मुक्ति पा गया।

(७४)

त्रिलोक-सम्राज्ञि ! पिशाचिनी ज्वरे[2] !
समस्त प्राणी तव खाद्य-मात्र है,
विमोहता है तुझको अवश्य ही
सँगीत-सा रोदन जीव-जन्तु का।

(७५)

दिनान्त मे पूषण-रश्मि-सी चली
तन-प्रभा पश्चिम गेह-द्वार से,
जहाँ कही भी वह कान्ति-देहिनी
गयी वहाँ है रजनी न शाश्वती[3]।

---

[1]ले जाया गया। [2]मृत्यु। [3]सनातनी।

(७६)

उतारती जीवन की तरी जभी
किसी पुराने भव-सिंधु-तीर पै,
पुकारते हैं मरना उसे, जहाँ
थपेड का किंचित भी न ज्ञात हो ।

(७७)

विहाय सीमा जब देश-काल की
मनुष्य अत्यन्त तमिस्र से घिरा,
तुरन्त आँखें मुँद-सी गयी, तथा
अवश्य ही शाश्वत नींद आ गयी ।

(७८)

नितान्त झ्झानिल बाल-श्वास[1]-सा
प्रतीत होता लघुता लिये हुये,
प्रचण्ड आह्वान-समक्ष मृत्यु के
प्रकृष्ट प्रोद्योत[2] प्रदीप का यथा ।

(७९)

द्रुमाद्रि की निश्चित पक्ष-हीनता,
क्षुपादि की सीमित पक्ष-युक्तता,
परन्तु प्राणान्वित[1] की समाप्ति की
न काल-सीमा परिबद्ध हो सकी ।

(८०)

सनातनी-शान्ति-समान मृत्यु है
अगम्य दुर्दान्त प्रशान्त स्वप्न है,
अभेद्य लीला बहिरंग प्राण की
न अंत है, जीवन-अतरंग है।

(८१)

मनुष्य को जीवन दे रही ज्वरा
तथा रही ले वह एक प्राण ही,
अत डरे क्यों नर मृत्यु से कि जो
नितान्त आदान-प्रदान-कार्य्य है।

(८२)

उरस्थली जीवन-की तरंग से
समुच्च-निस्पंदित हो रही, अहो !
इसे कहे जो हम मृत्यु तो कहो
किसे कहे प्राण-प्रतिक्रिया यहाँ।

(८३)

प्रवीर या कायर, या यती, गृही,
नरेश या रंक, यहाँ समान है,
निदान, भस्मान्त शरीर के लिए
मिला खटोला[1] यह आठ काठ का।

[1]अर्थी।

(८४)

न वस्तु है भू पर मृत्यु नाम की
कदापि नक्षत्र न डूबते कही,
विभासते जाकर अन्य लोक मे
प्रकाशते व्योम-किरीट मे सदा।

(८५)

धरित्रि मे जीवन आ प्रवेग से
कहा स-तार[1] स्वर 'मृत्यु-मृत्यु' ही,
दिगंत के कंदर बोलने लगे,
किया प्रतिध्वानित 'मृत्यु-मृत्यु' ही।

(८६)

महान आश्चर्य्य, कि जीव जो गये
विनाश के अंध-तमिस्र मार्ग से,
कदापि लौटे न, बता सके नही,
प्रयाण का उत्तम मार्ग कौन है।

(८७)

अनेक-रूपा बहु-वेषिणी तथा
त्रिलोक-जेत्री[2] तुम-सी न अन्य है,
सदैव तू ही सबको बना रही
कि मृत्तिका-मात्र प्रताप-भाग हैं।

---

[1] उच्च। [2] त्रिजयिनी।

(८८)

हटी धरित्री युग-नेत्र से जभी,
सुदृश्य आया पर-लोक का तभी,
सँगीत स्वर्गीय उसे सुना पड़ा,
उड़ा जभी मानव मृत्यु-पक्ष पै ।

(८९)

यही महा नीद, जिसे न तोड़ती
धरित्रि की घोर विपत्ति भी कभी,
यही निशा है, जिसको न नाशती
प्रभात की दीप्ति किसी प्रकार से ।

(९०)

न मृत्यु से है मरना अ-वीरता
न मृत्यु से है डरना प्रवीरता,
न मृत्यु से उत्तम अन्य मित्र है,
जिसे न आता मरना, मरे न क्यो ?

(९१)

विचारणीया जग-व्यापिनी दशा,
यही सभी से परिचिन्तनीय है,
कि मानवो का अभिशाप है यही
डरे, मरे, आगम देख मृत्यु का ।

(९२)

विनष्ट होता पहले प्रमोद है,
पुनश्च आशा करती प्रयाण है,
विभीति होती फिर नष्ट अंत मे,
स-धैर्य्य आती जब मृत्यु सामने।

(९३)

मनुष्य का निश्चित अंतकाल है,
न जानते कायर क्रूर कल्मषी,
पुनः पुनः हो मृत जी रहे वही
जिन्हे कि जीना मरना समान है।

(९४)

जगज्जयी भूपति भी न जानते,
कहाँ-कहाँ विस्तृत मृत्यु-राज्य है,
प्रसार आ-सप्त-समुद्र-शेखरी
दिनान्त-रात्र्यन्त-प्रमाण व्याप्ति है।

(९५)

किरीट से मंडित मस्तकेश' भी
निदान होते सब भस्मसात है,
निदेश देती जब मृत्यु है स्वयं,
चितान्ध होते यह शौनशागने।

(९६)

कहे गये शोष-प्रवाहिकादि[१] है
प्रसिद्ध प्राणान्तक सर्वलोक के,
सुने गये घातक है समाज के
विकार सारे कफ-पित्त-वात के।

(९७)

परन्तु है सेवक-सेविका सभी
अनेक जो अन्य उपाय मृत्यु के,
पिपीलिका कटक भी समर्थ है
मनुष्य-प्राणान्तक कार्य के लिए।

(९८)

दिनान्त आया, रवि अस्त हो चला,
परन्तु आशा फिर भी बनी रही,
समीर नि शव्द, विहग शान्त है,
परन्तु एका दिग-तारिका उगी।

(९९)

"सु-तारिके! साध्य-किरीट-रत्न तू
अदृष्ट होते रवि की सखी, तथा
प्रसाधिनी शान्ति-प्रमोद-प्रेम की,
प्रसन्न आशा-सम तू प्रकाशती।

[१]रोग-विशेष।

(१००)

"तुझे विलोका, खग नीड को चले
लखा तुझे तो पशु गेह को गये,
मुझे-तुझे देख स्वकीय धाम को
चले, हुआ भान दिनान्त मे, प्रिये !

(१०१)

"अदीर्घ निद्रा जन की सुषुप्ति है,
सुदीर्घ निद्रा प्रतिरूप मृत्यु का,
पलंग-शय्या अति सौख्य-दायिनी
श्मशान-शय्या वह दुःख-कारिणी ।

[द्रुतविलंबित]

(१०२)

निधन[1] की सुधि ही अपनोदती[1]
जगत मे भव-ताप मनुष्य की,
उतर जीवन की मद-कारिता
मरण में परिवर्तित हो गयी—

(१०३)

दिवस भी परिवर्तित हो चला
रजनि के जिस भाँति स्वप्न में,
मन प्रसन्न नृपाल-कुमार का
परम भिन्न हुआ उस भाँति से ।

(१०४)

सुलभ जीवन का न रहस्य है,
अति सुदुर्लभ मृत्यु-विभेद भी,
कुछ पता न चला, तब अंत मे
उठ चले गृह को वह शीघ्र ही ।

बारहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

कुमार के यौवन-रूप-रग पै
चढी चतुर्विशति[1]-वार्षिकी प्रभा;
चतुर्दिशा क्षत्रिय-कुड मे चली
विवाह-चर्चा वह धाम-धाम मे।

(२)

मनुष्य कोई कहते स-तर्क थे,
न भूप जाते यदि देव-लोक को
अवश्य उद्वाहित[2] देख पुत्र, वे
प्रमोद पाते पहले प्रभूत ही।

(३)

कलत्र कोई कहती स-खेद थी,
स-जीव[3] होती जननी कुमार की,
प्रमुग्ध होती लख पुत्र की वधू
न देर होती इतनी विवाह में।

---

[1]चौबीस। [2]विवाहित। [3]जीवित।

(४)

कनिष्ठ-भ्राता-प्रति प्रेम जेष्ठ का
यथा कहा देख पड़ा नहीं वहाँ,
न व्याह को चिंतित युद्धवीर है,
विचारते थे यह अन्य लोग भी।

(५)

परन्तु क्या ज्ञात किसी मनुष्य को
प्रगाढ़ अन्तर्हित[1] भाव देव के,
तथापि आये कुछ दूत भ्रातृ के
विवाह-आवश्यकता बता चले।

(६)

विवाह-प्रस्ताव प्रकाशते हुये,
सँदेश-सवाहक-वृन्द ने कहा,
"प्रभो! तुम्हारे प्रिय ज्येष्ठ-भ्रातृ को
अभीष्ट है कौतुक[2] आपका करें।

(७)

"प्रसिद्ध है, जीवन-अंतरिक्ष में
नवीन पत्नी-शशि नव्य-सूर्य से,
प्रसन्न शोभा [illegible] साथ-साथ ही
प्रसून होते [illegible] [illegible] से सदा।

---

[1] गुप्त। [2] विवाह।

(८)

"प्रयाग के संगम-सा विवाह है,
जहाँ नदी दो अति गाढ प्रेम की,
पृथक्-पृथक् दो रँग हैं तथापि वे
अभिन्न हो के बहती अजस्र हैं।

(९)

"विवाह की सुन्दर अक्षर-त्रयी
निबद्ध आभा जिसमे त्रिलोक की
विवाह की सीमित अगुलीय[1] की
असीम है जीवन-संपदा जहाँ।

(१०)

"विवाह है उत्तम सौख्य विश्व का,
विवाह है पार्थिव स्वर्ग सत्य ही,
विवाह है प्रेम-प्रकाश-प्रक्रिया,
विवाह ही जीवन का प्रसाद है।

(११)

"कलत्र-द्वारा खिंचता मनुष्य है,
मनुष्य द्वारा चलती कलत्र है,
अभीष्ट हो जीवन-लक्ष्य-वेध तो
कलत्र ज्या[2] और मनुष्य चाप है।

---

[1]अँगूठी। [2]प्रत्यंचा।

(१२)

"कलत्र जो एक विहग-बाल है,
मनुष्य भी एक रसाल डाल है,
कलत्र जो चारु लता प्रियाल[1] की,
मनुष्य तो मंजु पयोद-माल है।

(१३)

"मनुष्य के जीवन-अर्ध-भाग की
प्रपूरिका शीलवती कलत्र है।
कलत्र की अर्ध-गुणानुवृत्ति का
मनुष्य ही पूरक, सत्य जानिये।

(१४)

"वही यहाँ युग्मक[2] सौख्य-पूर्ण है,
समष्टि देते ग्रह साम्य ने जिन्हें,
सु-चित्त, सौभाग्य तथैव कान्तिता
अवाप्त होते वर रूप में जिन्हें।"

(१६)

कुमार ने शान्त स्वभाव से सुना
संदेश सासारिक ज्येष्ठ-भ्रातृ का,
पिता न माता, इस हेतु तात की
अवश्य इच्छा परिपालनीय थी।

(१७)

"परन्तु मैंने गुरु वृद्ध से सुना
विवाह-पचत्व[1] करस्थ दैव के,
इसीलिए भाग्य-विधान पूँछता
सदैव मौहूर्तिक[2] वृन्द से रहा।

(१८)

"कहा किसी ज्योतिष-विज्ञ ने कभी
विवाह होगा मम तीस वर्ष मे,
तथा मिलेगी मुझको वधू कि जो
सुभाग्य से ही मिलती मनुष्य को।

(१९)

"सुविज्ञ वे कोष्ठक[3]-भाल-हस्त[4] के
बता चुके है मुझको त्रिबार यो,
अवाप्त होगी वनिता अवश्य ही
सु-कन्यका भूपति ज्ञान-देव की।

---

[1]मृत्यु। [2]ज्योतिषी। [3]जन्म-चक्र। [4]सामुद्रिक।

(२०)

"कहा किसी ने यह भी विचार के
कि प्राप्त होगी प्रियमा सुना मुझे
न अन्य कोई उसकी स्वजा' मुझे
न अन्य कोई मुझ-सा पिता उसे।

(२१)

"अत: कहे जाकर आप तात से
मदीय आयोजन हस्त-सूत्र' का
अत: परे जो कुछ इष्ट देव को
वही सभी से परिपालनीय है।

(२२)

"इसे हुआ जो यह [illegible] से
बने विधाता नर-भाग्य के यहाँ
[illegible] होते उन धर्महीन को
[illegible] का [illegible] है।

[द्रुतविलंबित]

(२४)

विहग-तुल्य स-तारक रात्रि की
उड़ प्रतिक्षण थी घडियाँ रही,
पर अलौकिक भाग्य कुमार का
अयुत[1]-नेत्र नभस्थल देखता।

(२५)

गगन कोटि विलोचन से रहा
लख मनो-गति राजकुमार की,
ज्वलित जीवित नीलिम खंड-से
छवि प्रसार रहा प्रति-याम था।

(२६)

उस घडी घन मे लिपटी हुयी
प्रकट चारु हुयी नभ-चद्रिका
जलद घूँघट से सरके तथा
गिर पड़े पट-से तम-केश पै।

[वंशस्थ]

(२७)

सँदेश ले वाहक ज्ञात-पुत्र से
चले, व्यतीता कुछ यामिनी हुई,
परन्तु बैठे भगवान धाम मे
महान-गभीर-विचार-मग्न थे।

---

[1] करोडो।

(२८)

मनुष्य यों ही निज भाव-कर्पटी[1]
स-तर्क होके बुनता अजस्त्र है,
विचार का ही करघा बना हुआ,
लखो, रही है बुन चातुरी-तुरी।

(२९)

विचार जो जागृत एकदा हुये,
पुनश्च सोना वह जानते नहीं;
प्रकाशते विद्युत-वेग से जभी
प्रदीप्त होती मति-रोदसी[2] सदा।

(३०)

विहाय सीमा सब देश-काल की
विचार-संचार स्वतंत्र ज्यों हुआ,
कि भूमि भी है फिर भासती हमें
पवित्र-सी पुण्य-निवास-सी महा।

(३१)

निमग्न यों गूढ़ विचार में सुधी
धरित्रि को अंबर को विलोकते
विचारते थे निज कार्य्य-योजना,
प्रशान्ति बाह्यान्तर[3] वर्तमान थी।

---

[1]चादर। [2]भूमि-आकाश के बीच का भाग। [3]अंदर-बाहर।

(३२)

प्रभात के पक्ष-प्रसार पै चढी
गभस्तियाँ ज्यो रवि की प्रकाशती
कुमार की प्रस्तुत भाव-शैलियाँ
विराजती थी हृदयाधिरूढ हो ।

(३३)

अनादि भू और अनन्त कालके
नितान्त निर्मोक[1] विचार व्याप्त थे,
बना रही थी जिन की गभीरता
कि सूनु है वे अमृतत्व-कुक्षि के।

(३४)

विचार, जो सृष्टि-प्रवाह मोडते,
प्रसूत होते वह आत्म-तत्त्व से,
कुमार की जो हृदयानुभूति को
बना रहे थे परिपुष्ट नित्य ही।

(३५)

महान है वे नर जो विचारते
कि तत्त्व जो पुदगल[2] से वरिष्ठ है,
प्रसिद्ध आध्यात्मिक है वही कि जो
धरित्रि-संचालन मे समर्थ है ।

[1]नग्न । [2]भौतिक पदार्थ ।

(३६)

कुमार-मस्तिष्क-सुमेरु-शीर्ष से
विलोकते मानस-वीचि-भंगिमा
विचार के अंशु[1] प्रफुल्लता-भरे
खिला रहे थे मन-पुण्डरीक यो।

(३७)

सुषुप्ति मे निर्जर[2] ज्यो कभी-कभी
सु-स्वप्न देते शुभ आत्म-बोध के,
विचार-कूटस्थ कुमार-चित्त मे
प्ररोहते आत्मिक भव्य भाव थे।

(३८)

उठे अकस्मात विचार चित्त में
निशादि में स्वच्छ निशान्त-स्वप्न-से,
जिनेन्द्र-आत्मा ढक तथ्य से गयी
यथा जल-प्लावन से अरण्य-भू।

(३९)

परन्तु आयी ध्वनि ढोल झाँझ की
विषाण-मंजीर-मृदंग-चंग की,
विवाह से आ वर लौट ग्राम मे
स-मोद आया नृप-द्वार भेट को।

---

[1]किरण। [2]देवता।

(४०)

अनेक थे नर्तक यान-सग मे
प्रसिद्ध गोत्री[1]-गण साथ-साथ ही,
युवा नवोद्वाहित अश्व-पीठ पै
सवार था, मौर सजा ललाट मे।

(४१)

कुमार के सोदर[2] ज्येष्ठ नदि ने
बुला लिया शीघ्र कनिष्ठ-बधु भी,
किया नवोद्वाहित ज्ञाति-ब्रधु ने
प्रणाम, दी भेट विवर्त[3] हो गया।

(४२)

कुमार लौटे निज धाम को तभी,
प्रसन्नता देख सभी समाज की;
महान ही श्रीवर हृष्ट-चित्त था,
वधू मिली थी मन-मोद-दायिनी।

(४३)

लखा गया हर्षित-चित्त यान में
पिता उसी श्रीवर का निविष्ट था,
सु-पुत्र का गेह वसा स्व-भाग्य से
हुआ वड़ा ही कृत-कृत्य[4] अंत में।

---

[1]संबधी। [2]सगा भाई श्वे० मान्यतानुसार। [3]लौट (गया)। [4]धन्य।

(४४)

प्रसन्न होगी जननी विलोक के
नवा वधू के वदनारविन्द को,
निवेश मे कार्य्य-सहायिका मिली
महान होगी वह हृष्ट-मानसा।

(४५)

अवश्य सौभाग्यवती हुई वधू,
जिसे मिला श्रीवर रूपवान यों,
अवश्य कालान्तर मे स्व-चित्त से
विसार देगी स्व-पिता-निवास भी।

(४६)

सभी बराती अति हृष्ट-चित्त-से,
प्रकाम मिष्टान्न मिला, सुखी हुये,
समस्त, साराश, प्रसन्न-चित्त थे,
विवाह आयोजन पूर्ण हो चुका।

(४७)

निदान ऐसे बहु भाव ले चले
कुमार आये अपने निवेश मे,
व्यतीत यामा[1] युग याम हो चुकी
सुषुप्ति मे वीर प्रशान्त हो गये।

---

[1] रात्रि।

(४८)

कुमार सोये, सब विश्व सो गया,
कि सृष्टि सारी प्रकृतिस्थ हो गयी,
कि योग-निन्द्रा-वश रात्रि देख के
निसर्ग-नाडी कुछ मद हो गयी।

(४९)

प्रदीप देखो, प्रहरी[1]-समान ही
विलोकता लौ प्रभु से लगा-लगा,
समस्त तारे बरसा रहे मुदा
शनै शनै स्वस्थ समृद्धि व्योम की।

(५०)

मनुष्य के निद्रित-चित्त-राज्य पै
निशीथ ! तेरा अधिकार ख्यात है,
प्रसार जोत्स्ना-मय चान्द्र[2] जाल को
रहा फँसाता मन-मीन तू सदा।

(५१)

शिशुत्व का आसव पी प्रमत्त हो,
प्रगाढ निन्द्रा-वश ज्ञात-पुत्र है,
निबद्ध है यौवन नेत्र-कज मे
मरद[3]-माध्वी[4]-रस-मत्त भृंग दो।

[1]पहरा देनेवाला। [2]चद्रमाका। [3]पराग। [4]मदिरा।

(५२)

निशीथ-जाता मन की विमोहिनी
सहोदरा-तुल्य महा सुषुप्ति की
मनस्क[1]-चिता-परिहारिणी हुई
शयान निद्रे ! सँग ज्ञात-पुत्र के ।

(५३)

कुमार-आत्मा कितना कृतज्ञ है,
त्वदीय, निद्रे ! इस काल ला सकी
सुधी सुपर्वा अमरेन्द्र-लोक से
जुड़ा अनागार[2] समाज साधु का ।

(५४)

महान ताली कलधौत[3]-धाम की
निबद्ध-स्वातन्त्र्य, सुषुप्ति तू सदा,
असीम तेरा अवरोध चित्त पै,
बना मनो-सिंधु रही प्रशान्त तू ।

(५५)

सुषुप्ति की, ओस गिरी अनन्त से
गिरा दृगो पै मधु-भार शान्ति का,
सरोज वे संपुट हो गये अभी
बने कभी जो कि महा प्रफुल्ल थे ।

---

[1]मनकी । [2]निर्गृही । [3]स्वर्ण ।

(५६)

कुमार सोते सुख-शान्ति से रहे
चतुर्दिशा मे प्रहरी अमर्त्य हे,
सुपर्व आशीर्वचनावली मुदा
झरा करे तारक-वृन्द भाल पै।

(५७)

सुषुप्ति मे राजकुमार को हुआ
प्रमोद-कारी वह दिव्य स्वप्न जो
न सत्य था, किन्तु असत्य भी न था,
अदृष्ट था, किन्तु, तथापि दृष्ट था।

(५८)

दिखा पड़ा स्वप्न कि एक भूप की
सुता 'यशोदा' अति ही गुणागरी,
पवित्र-चारित्र्य-मयी सुशोभना,
हुआ उसी से उनका विवाह है।

(५९)

व्यतीत दो वर्ष हुये विवाह के
मनोज्ञ कन्या 'प्रियदर्शना' मिली,
विवाह-चिन्ता जिसकी हुई उन्हें
अभी न थी यद्यपि आठ वर्ष की।

(६०)

पुनश्च आया वटु[1] एक स्वप्न मे
कुमार से यो कहने लगा, "प्रभो !
सुना किसी भूपति ज्ञान-देव की
सुता-यशोदा भवदीय गेह में।

(६१)

"जिसे यशोदा कहते सभी, वही
महीपजा का उपनाम-मात्र है
सभी जनो ने सब ज्ञाति-बंधु ने
रखा महासिद्धि प्रसिद्ध नाम है।

(६२)

"प्रभो ! नही है 'प्रिय दर्शना' सुता
पुकारते है सब 'शान्ति' नाम से
विवाहके योग्य हुई अभी नही
परन्तु सौभाग्य भविष्य-गर्भ मे।"

(६३)

"न स्वप्न है स्वप्न स-स्वप्न के लिए,
सुषुप्ति है जागृत जीव के लिए,
दशा तुरीया[2] जिसको अवाप्त हो
सुषुप्ति है, जागृति है न स्वप्न है।"

---

[1]ब्रह्मचारी। [2]चतुर्थी।

(६४)

कुमार के आत्म-स्वरूप-सूर्य्य के
चतुर्दिशा सुप्ति-तुषार-अक में,
सु-स्वप्न यो बिम्बित इन्द्रचाप-से
दिखा रहे थे चल-चित्र लोक के।

(६५)

मनुष्य की आयु अनुत्तमोत्तमा[1]
विनिर्मिता है उस सूक्ष्म तत्त्व से
कि जो बनाता उस स्वप्न-जाल को
कि जो फँसाता भव-भूति-भाव में।

(६६)

निशीथ का वारिधि, स्वप्न की तरी,
अचूक दिग्सूचक-यन्त्र ऋक्ष का,
प्रयत्न का वायु मनोनुकूल था
महासुधी नाविक भागधेय[2] के।

(६७)

कुमार-सदृष्ट अनूप स्वप्न की
सदा रहेगी चल सूत्र-धारिता,
हुआ समारब्ध यहाँ स-कर्म, जो
अवश्य होगा परिपूर्ण भी वहाँ।

---

[1]अच्छी और बुरी। [2]भाग्य।

[द्रुतविलंबित]

(६८)

यदि कही विकते वह स्वप्न हों,
प्रकट जो करते सुख-दु:ख हैं,
क्रय किन्हे कर विक्रय भी किन्हे
परिनिवर्तन श्रेय स्व-गेह मे।

(६९)

रजनि में लसता वह स्वप्न है
दिवस में वनता वर दृश्य जो
कुसुम है क्षुप-पल्लव-रूप जो
सुमन जो लसता, वह घास है।

(७०)

मनुज-जीवन भाव समुद्र है
सुखद स्वप्न लसे बहु द्वीप-से;
उस अ-वायु, अ-शब्द अ-लोक मे
दृढ सुषुप्ति-तरी[1] पहुँचा सकी।

(७१)

अति अविग्वननीय सुषुप्ति के
वचन मे यदि निश्चय हो कहीं
निकट काल भविष्यत मे सभी
मनुज ले सुन वृत्त स्व-भाग्य का।

---

[1]नौका।

(७२)

हृदय मे स्थित राजकुमार के
सुखद भाव उठे इस काल जो,
सुर उठा उनको निज शक्ति से
गगन मे द्रुत लेकर जा रहे ।

[वंशस्थ]

(७३)

कुमार जागे कुछ आज पूर्व ही,
जगा दिया या सुख-स्वप्न ने उन्हे,
अभी त्रियामा अवशेष[1] थी, अभी
बिछे हुये अबर-मध्य ऋक्ष थे ।

(७४)

तमिस्र-सिहासन पै निशीथिनी[2]
निरशु-शोभामयि वर्तमान थी,
न नेत्र-कर्णादिक के लिए, अभी
चतुर्दिशा मे विषयानुभूति थी ।

(७५)

तना चँदोवा सिर पै तमिस्र का
जडा हुआ मौक्तिक के समूह से,
अहो ! न जाने किस दिव्य हस्त ने
किया जिसे निर्मित आदि-काल से ।

---

[1]बाकी । [2]रात्रि ।

(७६)

सहस्र-नेत्रा क्षणदा[1] कुमार को।
विलोकती थी अति प्रेम-भाव से
प्रबुद्ध हो और निमीलिताक्ष हो
बड़ी-घडी वे अवलोकते रहे।

(७७)

स-शब्द जिह्वा प्रति ऋक्ष मे न क्या?
न बात क्या वे करते कुमार से?
विचार-मध्याह्न हुआ निशीथ मे
प्ररूढ़ वारेन्द्र-समान बुद्धि है।

(७८)

नभस्थ सप्तर्षि विलोकते कि जो
विभूति देते नर भाग्यवान को,
कुमार को जो कि समृद्धि दे रहे
बना रहे राज्य मनोनुकूल है।

(७९)

उन्हे फँसाना भव-मुक्ति[2]-मीन है,
बना रहे है अति पुष्ट जाल वे,
न टूट जाये वह एक खोच मे
स-देह हो जीवन-मुक्त पारधी[3]।

---

[1]रात्रि। [2]जन्म-मरण। [3]शिकारी।

(८०)

मनुष्य मस्तिष्क स्वतंत्र वस्तु है,
स-शक्त ऐसा कि यथा समुच्च है,
प्रगाढ छाया जिसकी प्रलंबिनी
प्रसारती दीर्घ प्रभाव विश्व में ।

(८१)

स्व-भाव पक्षी-सम चित्त-नीड में
फुला रहा स्वीय पतत्र है अभी,
कभी उड़ेगा जग को प्रबोधता
लिए हुए सद्गति व्योम-चारिणी ।

(८२)

अवश्य ही धन्य अनन्त व्योम है,
विलोकता जो कि असख्य नेत्र से
कुमार को देकर दीप्ति, जो बनी
अनूप आशा नव-प्रात-कारिणी ।

(८३)

चतुर्दिशा, ईश्वर से विनिर्मिता
विराजमाना यह सृष्टि धन्य है,
अतीव धन्या वह सृष्टि भी कि जो
मनस्थिता है, अनुभूयमान[1] है ।

---

[1]जिसका अनुभव हो रहा है ।

(८४)

कि शक्ति-सत्ता उस शक्तिमान की
स-नीतिमत्ता - विभुता - अभिज्ञता,
बनी नटी-सी अभिनृत्य-लीन है
वसुंधरा सुन्दर रंग भूमिमे ।

(८५)

धरित्रि दु:खान्त-सुखांत नाट्य है
मनुष्य आवर्त-निवर्त[1] पात्र है,
कृतज्ञ होना उस सूत्र-धार का
सदैव सामायिक साधु कर्म है ।

(८६)

पतत्र[2] से है लघु वायु, वायु से
शिखी, शिखी से लघु भाव भासते ।
विलोकिये, है लघु भाव से यही
जिसे सभी संसृति नाम दे रहे ।

(८७)

कुमार ! तेरे मन को धरित्रि के
पदार्थ खींचें न कदापि वेग से,
यहाँ कहीं सग्रह में न सौख्य है
रसाक्त[3] है केवल एक त्याग ही ।

---

[1]आने-जाने वाले । [2]पंख । [3]रस-युक्त ।

(८८)

कुमार ! तेरे रस-सिक्त चित्त को
न सृष्टि का दृष्टि-विकल्प खीच ले।
धरित्रि का भोग वही मनुष्य ले
जिसे सदा हो भव-भोग भोगना।

[द्रुतविलंबित]

(८९)

इस प्रकार निशीथ कुमार ने
सजग काट दिया ध्रुव ध्यान मे,
फिर जगी नभ मे सुखदा उषा
सुमन[1] के मनके अधिदेव के।

[वंशस्थ]

(९०)

निशा चली पूर्व प्रभात हो गया,
विहग बोले, द्रुम डोलने लगे,
परन्तु डोला न कदापि लक्ष्य से
प्रगाढ भावान्वित चित्त, देव का।

(९१)

धरे हुये दक्षिण गुल्फ[2] वाम पै
तथैव होंठो पर निष्ठ[3] तर्जनी,
गभीर मुद्रा मुख की महान थी,
शयान थे चिन्तन-दत्त-चित्त वे।

---

[1]देवता। [2]टखना। [3]रखी हुई।

(९२)

कठोर था चित्त महान सत्य-सा,
विचार-धारा दृढ शुद्ध न्याय-सी,
विवाह हो ? दिव्य विवाह-योजना
बना रही मानस एक-तन्त्र थी ।

(९३)

विवाह हो ? दिव्य विवाह क्यो न हो,
बरात हो ? देव-समाज क्यो न हो,
बने नही पाणि-गृहीत मुक्ति क्यो
न देव हो श्रीवर-मडलेश[1] क्यो।

(९४)

अखड भोगी बनता अवश्य, तो
अखड ही हो दृढ ब्रह्मचर्य्य भी,
अखड हो प्रेम, अखड ज्ञान, तो
अखड-सौभाग्यवती प्रिया मिले।

(९५)

प्रभात मे सबल[2] और आ गया
प्रदीप्त तारागण और हो गये,
दिवा-धरित्री प्रतिबिम्बिता हुई
समुच्च आसक्ति, दृढा विभावना[3]।

---

[1]दूलह-समाज में श्रेष्ठ। [2]उत्तेजना। [3]विचार-धारा।

(९६)

धरित्रि की भी करुणामयी गिरा
हुई अभिव्यक्त पिकी-निनाद से,
चतुर्दिशा शब्द समीर ले चला,
समा गयी जागृति भूमि-लोक मे।

(९७)

प्रभात मे कोकिल-कंठ-व्याज से
वसन्त के पादप कूजने लगे,
अनूप अध्यात्म-संगीत काकली[1]
उंडेलते थे प्रति कर्ण-कुंज मे।

(९८)

निसर्ग-आत्मा बन कुंज-कोकिला
विवाह-संगीत अलापने लगी।
प्रफुल्ल शाखी पर मंजरी हुई
खिली बनो मे कलिका गुलाब की।

(९९)

कि कोकिलाएँ रत-काकलीक[2] है
कि लीन केका-रव मे मयूरियाँ,
कि वप्र-घाटी-धुनि[3]-अद्रि-व्योम मे
विवाह-संवाद-प्रसार हो रहा।

---

[1]कोकिला की ध्वनि। [2]गायन-लग्न। [3]नदी।

(१००)

पिकी ! तुम्हारी यह गीति शाश्वती
सुनी गयी संतत राव-रंक से,
अत मुझे दो वह तान, जो सदा
मुदा सुनी जाय जिनेन्द्र-भक्त से ।

(१०१)

पिकी ! तुम्हारे स्वर जो मनुष्य मे
प्रसन्नता है भरते दिवौकसी[1]
प्रबुद्ध नक्षत्र प्रकाश से हुये
सरस्वती के मृदु वीन-राग से ।

(१०२)

प्रसन्न प्रत्येक पलाश वृक्ष का,
प्रबुद्ध प्रत्येक तरंग नीर की,
वन-प्रिये ! मत्त कूहूक से हुये
कुमार-हृत्तन्त्र मधु[2]-प्रभात में ।

(१०३)

अनूप आयोजन स्वीय व्याह का
पडे-पडे सोच रहे कुमार थे,
कि पूर्व मे ब्रह्म-मुहूर्त की त्विपा
स-हर्ष आयी उदयाद्रि-शृंगपै ।

---

[1] दैवी । [2] वसन्त ।

(१०४)

वसन्त-दूती फिर भी अधीर-सी
सुना रही थी निज गान देव को,
वही कही आ शुक अतरिक्ष से
कुमार-उद्बोधन-लीन हो गया।

(१०५)

प्रसन्न गाती उड़ने लगी शुकी
कुमार को वृत्त बता-बता यही
कि मै न होती यदि मजुपाठिका[1]
न कीर गाता बन रक्त-तुड यो।

(१०६)

सँगीत उड्डीन कि कीर-कंठ से
कि कीर उड्डीन सगीत से हुआ,
अहो ! इसी तर्क-वितर्क मे तभी
विहाय शय्या विबुधाग्रणी[2] उठे।

[द्रुतविलंबित]

(१०७)

चिमिक[3] ! तू मुझसे भय-भीत हो
न उड़ या कर पक्ष-निपात ही,
श्रवण-हेतु त्वदीय संगीत मै
उठ उपस्थित हूँ शयनांक में ।

---

[1]शुकी । [2]आर्य्य-पुत्र । [3]तोता ।

(१०८)

जिस प्रकार सुनिर्मल व्योम है,
विमल है जिस भाँति गभस्तियाँ,
स्वर तथैव त्वदीय प्रशस्त है,
तरल तान महा अभिराम है

(१०९)

चिमिक ! द्रे छिपने पिक पत्र में,
यह प्रकाश त्वदीय निकेत है,
निवस तू इस मे मृदु गा, यथा
ऋक विनिसृत श्रोत्रिय[1]-कंठसे।

(११०)

प्रतनु[2] दूत ! पथी नभ-मार्ग के
कर तिरस्कृत तू महि-वेदना,
अवनि की वहु-मूल्य समृद्धि से
अधिक सौख्य भरा तव गान में।

(१११)

गगन मे इस भाँति, उड़ा करे
मन यथा निज-तंत्र यतीन्द्र का
मृदुलता-मय गायन गा, सखे !
वचन ज्यो सुख-धाम मुनीन्द्र के।

---

[1]वेद-पाठी। [2]क्षुद्रशरीरी।

तेरहवाँ सर्ग

[द्रुतविलंबित]

(१)

समय था दिन के अवसान[1] का
तरणि-तेज तिरोहित[2] हो चला
तरु-शिखास्थित वृन्द विहंग के
चहचहाकर गायन गा उठे ।

(२)

पवन शीतल-मद सुगधि से,
सरित भी निशि-वासर-सधि से,
कह चले अपनी-अपनी कथा,
बह चले कुछ मंथर[3] चाल से ।

(३)

कुसुम पै कण आकर ओस के
दल भिगोकर निश्चल हो गये,
गगन मे उडु-वृन्द शनै शनै:
टिमटिमाकर सस्थिर-से हुये ।

---

[1]समाप्ति । [2]लुप्त । [3]धीमी ।

(४)

विटप - पल्लव - पुंज - हरीतिमा
हरित और हुई उस काल में,
सलिल की कुछ नीलिम वीचियाँ
असित और हुईं नभ-नील-सी।

(५)

झुक प्रदीप-प्रदर्शिनि साँझ ने
दिवस की अति भव्य समाधि पै,
अ-तुल स्नेह-समेत स-धूम-से
गगन-भू पर दीप जला दिये।

(६)

समय शान्त, प्रशान्त निकेत था,
विगत-ध्वान्त नितान्त कुमार थे,
निधन से जननी-जनकादि के
परम खिन्न, परन्तु अ-मोह थे।

(७)

उस घड़ी उनके मन में उठी
परम पावन द्वादश भावना—
इस प्रकार विनिर्गत हो चली
विरति[1]-पोषण-कारिणि चिंतना।

---

[1]विराग।

(८)

दिवस का अवसान विलोक के
खग हुये स्व-कुलाय[1]-निविष्ट है,
प्रसर राज्य रहा अब शान्ति का
मन प्रशान्त हुआ, तन श्रान्त है।

[वंशस्थ]

(९)

[2]मनुष्य का जीवन मृत्यु से घिरा
युवा-अवस्था परिणाम मे जरा,
शरीर है आलय रोग-सर्प का,
अनित्य है इन्द्रिय-सौख्य-सपदा।

(१०)

स्वकर्म के ही परिपाक से सदा
मनुष्य के कीलित[3] जन्म-मृत्यु है,
मनुष्य ही क्या, सब जीव-मात्र मे
अनित्यता है, क्षति है, निपात है।

(११)

जग-त्रयी की सब सौख्य-सपदा
विनष्ट होती दिन चार-पाँच मे
कही अभी, या कल, या परश्व[4] ही
समस्त भू की मिटती यथार्थता।

---

[1]घोसला। [2]अथ अनित्य भावना। [3]सीमित। [4]परसो।

(१२)

मनुष्य ऐसे, जिनके निमेष से
अशेष होते प्रलयोदयादि है,
रहे न वे भी इस जीव-लोक में
पुनः कथा क्या कृमि-कीट की कहें।

(१३)

समुद्र के वुद्वुद-तुल्य शीघ्र ही
विनष्ट होते जब लक्ष इन्द्र भी,
हमें कहाँ जीवन दीर्घ प्राप्त हो,
खड़ा महाकाल समक्ष ही सदा।

(१४)

विनष्ट होती अचला धरा जहाँ,
विशीर्ण[1] होते हिमवान-विन्ध्य भी,
विहीन होते जल से समुद्र है—
पुनः कथा क्या नर-देह की कहें।

(१५)

हमें मही मे जितने पिता मिले,
मिले यहाँ पै जितने स्व-बंधु भी,
न भूमि में है उतने कणांशु या
भ-चक्र में है उतने न ऋक्ष[2] भी।

---

[1]टुकड़े-टुकड़े। [2]तारा।

(१६)

मनुष्य अव्यक्त[1] स्व-जन्म-पूर्व मे,
तथैव है वे सब व्यक्त मध्य मे,
पुनश्च अव्यक्त विनाश के परे
अत वृथा है परिदेवना[2] सभी ।

(१७)

सु-पुत्र, पत्नी, धन, कीर्ति जीव को
प्रमोद देते यह बात सत्य है,
परन्तु हा ! जीवन तो मनुष्य का
प्रमत्त-नारी-दृगपांग-लोल[3] है ।

(१८)

सहस्र माता, शत कोटि पुत्र भी,
पिता असंख्यात कलत्र मित्र भी,
अनन्त उत्पन्न हुये, जिये, मरे,
न मै किसी का, वह भी न मामकी ।

(१९)

यथैव भू की हरिता तृणावली
स-हर्ष खाते वलि-जीव-जन्तु है,
तथैव भूला यम-यातना, अहो !
मनुष्य भारी भ्रम भोग भोगता ।

---

[1]अदृष्ट । [2]रोना-पीटना । [3]चचल ।

(२०)

प्रसन्न होते मति-मद द्रव्य से
तथैव रोते वन रक अत में,
विवेक द्वारा यदि वे विलोक ले,
अतथ्य सपत्ति, विपत्ति भी वृथा ।

(२१)

समुच्च वातायन गोपुरादि[1] से
सुसज्जिता तुग-शिखा हवेलियाँ,
विनष्ट होती क्षण एक मे, तदा
कहो, कहे क्या, नर-देह की कथा ।

(२२)

सरोज-पत्र-स्थित नीर-बुन्द-सी
मनुष्य की आयु अतीव चचला,
अवश्य ही दशित[2] व्याधि-व्याल से,
दशा महा-शोक-हता त्रिलोक की ।

(२३)

मनोहरा स्त्री, अनुकूल मित्र भी,
महा सुखी बाँधव, योग्य भृत्य भी,
गजेन्द्र-वाजी सब नाशवान है
नरेन्द्र-मंत्री सब ह्रासवान है ।

---

[1]गवाक्षादि । [2]काटा हुआ ।

(२४)

इसी लिए जीव सुधी वरण्य जो
प्रवृत्त होते जिन-धर्म-मार्ग मे,
न विश्व मे सतत सौख्य-लाभ है,
अत. विचिन्त्या[1] परमार्थ-साधना।

[द्रुतविलंबित]

(२५)

जिस[2] प्रकार फँसा हरि[3]-दष्ट्र मे
अबल बालक युक्ति-विहीन हो,
उस प्रकार बँधा नर विश्व मे
शरण पा सकता न अ-धर्म की।

[वंशस्थ]

(२६)

अत सुधी मानव को त्रिलोक मे
शरण्य अर्हन्त-पदाब्ज है सदा;
जिनेन्द्र-पूजा, तप, दान, जाप ही
अजस्र रत्न-त्रय प्रेय है उसे।

(२७)

जिनेन्द्र के ही उपदेश गेय है,
मुनीन्द्र के ही पद-पद्म ध्येय है,
जिनेन्द्र-सिद्धान्त सदैव श्रेय है,
अत धरो ध्यान मुनीन्द्र-मार्ग का।

---

[1]चिन्तनीय। [2]अथ अशरण-भावना। [3]सिंह।

(२८)

सदैव मोक्ष-प्रद जैन-धर्म है,
तथैव रत्न-त्रय-साध्य मोक्ष है,
वितान[1] है मोक्ष अनन्त सौख्य का
प्रतान है सौख्य अनादि शक्ति का।

(२९)

मनुष्य जो केवल-ज्ञान-देव को
विहाय सेते सुर नाम-मात्र के,
सदैव पाते गति दुर्दशामयी
न मुक्त होते भव-रोग-दोष से।

(३०)

अमोघ रत्न-त्रय के प्रभाव से
अवाप्त होती वह मुक्ति जीव को
अनन्त - आनद - समुद्र - रूपिणी
प्रसिद्ध है जो जिन-धर्म-शास्त्र में।

[द्रुतविलंबित]

(३१)

मनुज[2] को भव दो, मृत एक है,
अपर में न तु सभव-शक्ति ही,
भटकता युग-ससृति-मध्य में
शरण-हीन अनादृत जन्तु-सा।

---

[1]तनाव, चाँदना। [2]अथ ससारानुप्रेक्षा।

[वंशस्थ]

(३२)

अनादि है विश्व, अनंत लोक है,
(सुना गया भव्य-अभव्य जीव से)
विमूढ को जो सुख-दु ख-पूर्ण है,
नितान्त दु खाश्रय विज्ञ मानते।

(३३)

विमूढ पाते सुख भोग मे सदा
न विज्ञ होते विषयादि-लुब्ध है,
प्रतीति सारे भव-भोग की, अहो !
निकृष्ट होती नरकादि-हेतु है।

(३४)

मनुष्य के कर्म, शरीर-धर्म भी,
यहाँ न ऐसे जिनको यथार्थ ही,
किये नही त्यक्त-गृहीत जीव ने
प्रसिद्ध ऐसा यह द्रव्य-लोक है।

(३५)

प्रदेश ऐसा इस लोक मे नही
न जीव उत्पन्न हुए, मरे जहाँ,
सुविज्ञ-प्राणी-गण मे इसीलिए
प्रसिद्ध प्रामाणिक क्षेत्र-लोक है।

(३६)

न काल ऐसा इह लोक मे बचा,
न जीव उत्पन्न हुये, मरे जहाँ,
इसी लिए विज्ञ-समाज में यहाँ
प्रसिद्ध वैज्ञानिक काल-लोक है।

(३७)

न योनि ऐसी इस भूमि में बची
जिसे न संप्राप्त हुआ स्व-जीव हो,
अत. जिसे पडित विश्व मानते,
प्रसिद्ध भू मे भव-लोक है वही।

(३८)

सदैव प्राणी भ्रमते त्रिलोक में
स्व-कर्म मिथ्यात्व-समेत पालते,
समेटते अर्जित पाप-पुज है,
प्रभावशाली यह भाव-लोक है।

(३९)

विमुक्ति-दाता जिन-धर्म-श्रेष्ठ है,
अत करो पालन यत्न से इसे,
अनूप रत्न-त्रय-रूप मोक्ष का
निधान[1] है केवल-ज्ञान सर्वग।

---

[1]भाडार।

[द्रुतविलंबित]

(४०)

सुहृद[1]-संग सदा रहना हमे
वितरता बल-बुद्धि-विवेक है,
पर असग-प्रसग परेश का
विदित आत्म-समुन्नति-हेतु है।

[वंशस्थ]

(४१)

सदैव प्राणी इस मर्त्य-लोक मे
रहा अकेला, रहता अ-संग है;
रहा करेगा यह संग-हीन ही
प्रसंग होगा इसका न अन्य से।

(४२)

असग लेता नर जन्म विश्व मे
असग ही है मरता पुन पुन,
सदा अकेला सुख-दु ख भोगता
न अन्य साभी इसका त्रिलोक मे।

(४३)

अ-संग ही सौख्यद भोग भोगता,
अ-संग ही दु.खद रोग भोगता,
सदैव प्राणी यमराज-सग मे
असग जाता, फिरता अ-संग है।

[1]अथ एकत्व-भावना।

(४४)

सदा अकेला करता कु-कर्म है
कुटुम्ब के पालन-हेतु विश्व में,
इसीलिए पुद्गल-पाप-बंध से
अवश्य पाता नरकाधिकार है।

(४५)

परन्तु जो मानव मुक्त-संग हो
लगे हुये सम्यक-दर्शनादि में,
व्यतीत भू में करते स्व-कर्म हैं,
कहे गये केवल-ज्ञान-संयमी।

(४६)

असंग भू में करते व्रतादि हैं,
असंग सारे तप-जाप साधते,
वही महा विज्ञ मनुष्य अंत में
अतीव पाते सुख पुण्य-बंध से।

(४७)

विभूतियाँ, जो सुर-लोक-सिद्ध हैं,
महान निःश्रेयस-संपदा तथा
विशुद्ध कैवल्य-प्रदा त्रिलोक में
अवाप्त होती गतियाँ विदग्ध[1] को।

---

[1] पण्डित।

(४८)

मनुष्य रत्न-त्रय से अवश्य ही
विनाशता कर्म-अकर्म-भावना,
सदैव एकत्व-प्रधान भाव ही
प्रभावशाली अपवर्ग[1]-हेतु है ।

[द्रुतविलंबित]

(४९)

मनुज[2] है प्रकृतिस्थ अवश्य, पै
इतर है जग आत्म-स्वरूप से,
जगत है जड, चेतन जीव है,
परम पुद्गल-तत्त्व अ-तत्त्व है ।

[वंशस्थ]

(५०)

मनुष्य ! तू अन्य समस्त जीव से
स्व-कर्म से भी अतिरिक्त है सदा,
पदार्थ सारे महि-नाक-पाक के
सखे ! असबद्ध त्वदीय प्राण से ।

(५१)

सदैव कर्मोदय से मनुष्य को
अवाप्त होते जग-जाति-बंधु है,
पिता तथा पुत्र, कलत्र, मित्र भी
न साथ जाते, रहते न सग में ।

---

[1] मुक्ति । [2] अथ अन्यत्व-भावना ।

(५२)

शरीर ही, जो निज अत-रंग-सा,
न साथ देता जब है मनुष्य का,
कहे कथा क्या बहिरग-वर्तिनी
कुरंग-नेत्रा त्रिनता[1] कलत्र की।

(५३)

स्व-चित्त, जो पुद्गल-कर्म-जन्य है,
स्वचित्त—संकल्प-विकल्प-युक्त जो,
तथैव वाचा युग-भाति की, सखे!
विभिन्न है निश्चय जीव-तत्त्व से।

(५४)

मनुष्य के कर्म विभिन्न जीव से,
विभिन्न ही है परिणाम कर्म के,
सभी नरो के सुख-दुःख आदि भी
विभिन्न है आत्म-स्वरूप से सभी।

(५५)

विभिन्न है ज्ञान-स्वरूप जीव से,
स्व-कर्म की साधन-मात्र इन्द्रिया,
विभिन्न है सम्यक राग-द्वेष भी
विकर्म सारे अथवा अ-कर्म भी।

---

[1]तीन स्थानो मे टेढ़ी।

(५६)

अत. करो यत्न-समेत भावना
शरीर-द्वारा उस आत्म-तत्त्व की,
अनादि, अक्षय्य, अनत जो सदा
निरीह,[1] निर्धारित निर्विकार जो—

[द्रुतविलंबित]

(५७)

अशुचि[2]-पूर्ण शरीर मनुष्य का,
विदित जो मल-मूत्र-पखाल है,
अगरु से न तु चंदन-लेप से
विमलता-मय भासित हो सका।

[वंशस्थ]

(५८)

शरीर है निर्मित सप्त-धातु से,
निधान है जो मल-मूत्र आदि का,
स-मोह सेवा इसकी अकार्य्य है
सु-बुद्धि-सबोधित ज्ञानवान से।

(५९)

यहाँ बुभुक्षा जलती प्रकोप से,
यहाँ पिपासा पलती प्रदाह से,
विनाशती यौवन अग्नि काम की
जरा न जाती जब आचुकी यहाँ।

---

[1] इच्छा-हीन। [2] अथ अशुचि-भावना।

(९०)

शरीर ही है बिल काम-सर्प की,
यही कुटी निश्चित राग-द्वेष की,
कुगंधिता है स्वयमेव ही नहीं,
वरन् बनाती शुचि-हीन वस्त्र भी।

(९१)

शरीर चाहे अति हृष्ट-पुष्ट हो,
तथैव हो सुन्दर शौर्य्यवान या
परन्तु होता परिणाम में सदा
अभूरि[1] मुष्टिगत[2]-भस्म-तुल्य ही।

(९२)

शरीर का पालन रोग-मूल है,
शरीर का शोषण योग-दातृ है,
इसीलिए क्यों अपवित्र देह से
करो न सपन्न स्व-धर्म-साधना।

(९३)

अनित्य देहस्थित नित्य जीव है,
करे न निःश्रेयस-प्राप्ति कार्य क्यों?
अवस्थिता केवल ज्ञान में सदा
नितान्त ही मुक्ति महा पवित्र है।

---

[1]थोड़ी। [2]मुट्ठी भर।

[द्रुतविलंबित]

(६४)

सलिल[1]-आस्रव हो जिस कूप मे
विगत-नीर कभी बनता नही,
इस प्रकार स-कर्म मनुष्य को
कब अवाप्त हुई गति निर्जरा ?

[वंशस्थ]

(६५)

स-राग आत्म-स्थित राग-भाव से
समागता पुद्गल-राशि कर्म हो,
शरीर मे आगत दु ख-दायिनी
प्रसिद्ध है आस्रव नाम से सदा ।

(६६)

स-छिद्र जैसे जल-यान मे, जभी
प्रविष्ट होता जल, डूबती तरी,
तथैव कर्मागम से मनुष्य का
अवश्य होता विनिपात[2] अंत में ।

(६७)

अत. सुनो आस्रव-हेतु भी, जिन्हे
महान ही दुष्कर नाशना हमे;
प्रमाद-उत्पन्न अनर्थ मूल जो
प्रसिद्ध मिथ्यात्व समस्त भूमि मे ।

---

[1]अथ आस्रव-भावना । [2]नाश ।

(६८)

कहा गया पंच प्रकार का वही
प्रधान है आस्रव हेतु कर्म का,
प्रसिद्ध जो द्वादश भाँति की यहाँ
अनर्थिनी[1] घोर विराग-हीनता।

(६९)

प्रमाद जो पंचदशी विभक्ति[2] का
तृतीय है हेतु; चतुर्थ और भी—
सभी कषाएँ सब दुष्ट योग, जो
न दूर होते शतश प्रयत्न से।

(७०)

उन्हे सदा सम्यक-ज्ञान-हेति[3] से
विनाशना ही ध्रुव वीर-धर्म है,
सुदीर्घ कर्मास्रव-द्वार ज्ञान से
न बन्द जो है करता प्रयत्न से—

(७१)

न पाप से मुक्ति मिली कभी उसे,
न पा सका केवल-ज्ञान-लाभ सो,
मनुष्य कर्मास्रव रोकता तभी
विमुक्ति रत्न-त्रय से समेटता।

---

[1]अनर्थकारी। [2]विभाजन। [3]शस्त्र।

[द्रुतविलंबित]

(७२)

मनुज[1] योग-तपादिक-यत्न से,
निगम-आगम के स्थिर ज्ञान से,
कर निराश्रित आस्रव कर्म का
स-मुद रत्न-त्रयी फल भोगते।

[वंशस्थ]

(७३)

मुनीश योग-व्रत-गुप्ति आदि से
स-यत्न कर्मास्रव-द्वार रोकते,
वही क्रिया सवर नाम-धारिणी
विमुक्ति-संपादन मे अमोघ है।

(७४)

चरित्र जो तेरह भाँति का, तथा
स्व-धर्म, जो एक-नव[2] प्रकार का
प्रसिद्ध जो वारह भावना यहाँ
परीषहाघातक हेतु ख्यात[3] जो,

(७५)

विशुद्ध सामायिक पाँच भाँति का,
विमर्ष जो उत्तम ज्ञान-ध्यान का,
यही सभी सत्तम हेतु जानिये
अमोघ[4] कर्मास्रव के निरोध मे।

---

[1]अथ संवर-भावना। [2]दस। [3]वर्णित। [4]अव्यर्थ।

(७६)

मुनीश, जो संवर-दत्त-चित्त हैं,
प्रकाशिता है जिनकी गुणावली,
वही मही के चल[1] धर्म-वृक्ष हैं,
तथा उन्हीं के अवदात[2] ध्यान हैं।

[द्रुतविलंबित]

(७७)

द्विविध कर्म-विनाश-प्रवृत्ति का
सुफल है वह संपति-प्राप्ति, जो
न मिलती इस भू-तल में उसे
कर न जो सकता प्रभु-भक्ति है।

[वंशस्थ]

(७८)

अतीत[3] से संचित कर्म-राशि का
विनाश होना अविपाक निर्जरा;
कही गयी सिद्ध मुनीन्द्र से सदा
अवश्य ही संग्रहणीय सावना।

(७९)

स्वभाव से ही वह, जो मनुष्य के
स्वतंत्र कर्मोदय-काल में उठे,
सदा परित्याग करे स-यत्न सो
विकार-युक्ता सविपाक निर्जरा।

---

[1]चर। [2]श्वेत। [3]अथ निर्जरानुप्रेक्षा।

(८०)

यथा-यथा योग-तपादि यत्न से
करे यती नित्य स्व-कर्म-निर्जरा;
तथा-तथा ही उसके समीप मे
अवश्य आती शुभ मोक्ष-इंदिरा।

(८१)

सभी सुखो की खनि[1] ख्यात निर्जरा,
विमुक्ति-योषा-प्रद ज्ञात निर्जरा
विकर्म-यामा-कृत प्रात निर्जरा
सु-ध्यान-भू मे अवदात निर्जरा।

[द्रुतविलंबित]

(८२)

सलिल[2] से, महि से, नभ से, तथा
अनिल से जग पावक से बना,
भुवन सप्त अधोपरि राजते
सदन के सु-मनोहर खड-से।

[वंशस्थ]

(८३)

यथा अधोलोक, तथैव अंघ्रि है,
यथैव है मध्य, तथैव नाभि है,
यथैव है ऊर्ध्व, तथैव शीर्ष है,
यथैव ब्रह्माण्ड, तथैव पिंड[3] है।

---

[1]खान। [2]अथ लोक-भावना। [3]शरीर।

(८४)

त्रिलोक है, या जग सप्त-लोक है,
अनन्त है संसृति या कि सान्त है,
दिनेश-राकापति भी न जानते
समस्त तारे अनभिज्ञ-भेद[1] है।

(८५)

निधान है स्वर्ग अनन्त सौख्य का,
विधान है नारक कोटि दुःख का,
इसीलिए सात्त्विक धर्म-ग्रंथ मे
प्रशंसनीया अपवर्ग - साधना।

(८६)

सभी नगो की गणना असार है,
नदी-नदों का कहना निरर्थ है,
अयुक्त है सागर-मथना, अतः
स-सार है केवल-ज्ञान-भावना।

[द्रुतविलंबित]

(८७)

परम[2] दुर्लभ संभव[3] लोक मे,
विदित है नर-योनि सुदुर्लभा,
अति अलभ्य शुभा गतिधर्म की
वह अलभ्य महा पद बोधि का।

---

[1]रहस्य न जाननेवाले। [2]अथ बोधि-दुर्लभ भावना। [3]जन्म।

[वंशस्थ]

(८८)

चतुर्विधा जो गतियाँ कही गयी,
सुदुर्लभा है प्रथमा दशा उन्हे,
प्रसिद्ध जो मानव-योनि नाम से
अलभ्य, चितामणि-ज्यो समुद्र मे ।

(८९)

सुदुर्लभा भी यह आर्य्य-भूमि है,
अलभ्य उत्पत्ति मनुष्य की यहाँ,
सुदुर्लभा उत्तम वश-प्राप्ति भी,
सुदुर्लभा दीर्घ मनुष्य-आयु है,

(९०)

अलभ्य पचेन्द्रिय-पूर्णता यहाँ,
सुदुर्लभा निर्मल-बुद्धि-प्राप्ति भी,
अलभ्य है मद-कषाय-भावना
सुदुर्लभा मुक्ति-प्रदा विभावना[1] ।

(९१)

तथा, मही-मध्य अलभ्य श्रेष्ठता
अलभ्य है धार्मिकता मनुष्य को,
अलभ्य है सम्यक-दर्शनात्मिका[2]
विशुद्धि, विज्ञान-चरित्र आदि भी ।

---

[1]विचार। [2]सम्यक-ज्ञान-वाली।

(९२)

इसीलिए धर्म महान श्रेष्ठ है,
इसीलिए कर्म-प्रधान विश्व भी,
लगे हुये मानव धर्म-कर्म मे
विचारते केवल-ज्ञान-मर्म्म है।

(९३)

विमुक्ति पाना इस जन्म-मृत्यु से
महान नि श्रेयस स्यात विश्व मे,
सदैव श्रेयांस[1] स्व-धर्म भावना,
तथैव प्रेयास[2] जिनेन्द्र-वंदना।

[द्रुतविलंबित]

(९४)

शिथिल[3] जीव निकाल भवाब्धि से
अमित अर्हत् का पद दे, वही
विदित है प्रभुता प्रभु-धर्म की
विपुल मुक्ति-प्रदायिनि लोक मे।

[वंशस्थ]

(९५)

क्षमा-दया, सयम, सत्य, शौच से,
तपाऽऽर्जव-त्याग-विरागभाव[4] मे,
कि युक्त जो मार्दव, ब्रह्मचर्य मे
दशांग-शोभी जिन-धर्म-रूप है।

---

[1]श्रेय। [2]प्रेय। [3]अथ धर्मानुप्रेक्षा। [4]अकिंचनता।

(९६)

स्व-धर्म धर्मी यदि पालता रहे,
अ-कर्म कर्मी यदि घालता रहे,
अवश्य ही हो उसको अवाप्त तो
विमुक्ति-दात्री सुख-सपदा सदा ।

(९७)

स्व-धर्म ही श्रेय सभी प्रकार से
विधर्म ही हेय मुमुक्षु[1] के लिए,
न इन्दिरा ही मिलती उसे, अहो !
अवाप्त होती जिन-धर्म-संपदा ।

(९८)

अलभ्य जो सपति है त्रिलोक मे,
न भाग्य-आमन्त्रित जो हुई कभी,
अवश्य होती वह स्वीय योपिता,
जिनेन्द्र के धर्म-प्रभाव से सदा ।

(९९)

सदा सवित्री[2]-सविता[3] स्व-धर्म है
स्व-धर्म भ्राता, स्व-सखा स्व-धर्म है,
स्व-धर्म विद्या धन भी स्व-धर्म है,
स्व-धर्म सर्वोत्तम—सर्व-श्रेष्ठ है।

---

[1]मोक्ष की इच्छा वाला। [2]माता। [3]पिता।

(१००)

स्व-धर्म चिन्तामणि-कल्पवृक्ष है,
स्व-धर्म संपूजित कामधेनु भी,
स्व-धर्म ही भू-गत स्वर्गलोक में,
स्व-धर्म ही श्रेय, विधर्म हेय है।

(१०१)

अत: करो पालन नित्य धर्म का,
पदाब्ज-प्रक्षालन सत्य-धर्म का,
न प्राप्त होती जिसके विना कभी
मनुष्य को केवल-ज्ञान-कल्पना।

[द्रुतविलंबित]

(१०२)

हृदय-अंबुधि को जिनराज के
अति तरंगित-सा करता हुआ
विरति-पोषक-द्वादश-भावना-
निचय[1] निश्चय ही उठने लगा।

(१०३)

अब महान प्रमत्त, गजेन्द्र का
दृढ़ अलान[2] हुआ श्लथ[3], देखिए,
चल न दे यह कानन को कहीं
रह गया अवरोध न अंत में।

---

[1]समूह। [2]बंधन। [3]ढीला।

चौदहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

न काल जाते लगता विलम्ब है,
विहाय चारित्र्य न काल-लब्धि भी,
विलोकते विश्व-दशा सनातनी
कुमार को त्रिशति[1] वर्ष हो गये।

(२)

दिखा पडे काल-महा-समुद्र में
कि वर्ष वे त्रिशति बुन्द-तुल्य थे,
त्रिलोक मे कौन पदार्थ है कि जो
न काल के नाशक हस्त मे गया।

(३)

कुमार पीछे फिर देखने लगे
कि दृष्टि से ओझल भूत ज्यो हुआ;
शनै शनै काल-कपाट[2] तीस वे
हुये सभी मद-विराव[3] वन्द थे।

---

[1]तीस। [2]किवाड़े। [3]चुपके।

(४)

कपोत के चचल पक्ष-पात से,
शशाद[1] की निस्वनिता उड़ान से,
खगेन्द्र[2] के निर्मल स्वर्ण पक्ष-से
अतीव तीव्रा द्रुत चाल काल की ।

(५)

अभी हुआ जन्म, प्रतीति-सी हुई,
हुये अभी ही गत मातृ-पितृ भी,
कुमार को यो गति काल की लगी
कि चचला-चालित शीघ्र-गामिता ।

(६)

प्रशान्त हो स्वप्न-प्रवाह मे यथा
मनुष्य जाता वहता अनन्त को,
कुमार जाते उस भाँति तैरते
भविष्य-काल-प्लव[3] में शयान हो ।

(७)

विभीत होके प्रभु-ब्रह्मचर्य्य से
कराल कालांगुलि[4] कोमला चली,
पड़ी न रेखा जिनकी ललाट पै,
न मौलि मे अकित लेखनी हुई ।

[1]बाज । [2]गरुड । [3]नौका । [4]समय की उँगली ।

(८)

परन्तु तो भी वह सोचने लगे
कि चाप-धारी अति दक्ष काल है;
अजिह्म-गामी जिसके कलब[1] है,
जरा न जाने किस बाण से चली।

(९)

न ज्ञात कार्य्यालय गुप्त काल का
विचित्र 'ऐसा यह तन्तुवाय[2] है,
अतीव है निस्वन कार्य-योजना
महान है कौशल मूक हस्त का।

(१०)

कुचक्र भी काल-विहग का सदा
सभी पदार्थो पर रम्यमाण[3] है,
गिरा रहा उज्वल पक्ष से यहाँ
विभावरी[4] शाश्वत अंधकार की।

(११)

अभिन्न मैत्री इतनी मनुष्य की
हुई किसी भी सुर से कभी नहीं,
बता सके निश्चित रूप से कि जो
अवाप्त होगा दिन दूसरा मुझे।

---

[1]बाण। [2]कपड़ा बुननेवाला। [3]चलनेवाला। [4]रात्रि।

(१२)

त्रिधा प्रसिद्धा गति काल-चक्र की,
विचारिये तो, गति-हीन भूत है,
अमंद जाता जब वर्तमान, तो
शनै शनै. आ मिलता भविष्य भी।

(१३)

अपार कालोदधि की तरंग के
समान है वर्ष असंख्य, जानिये,
मनुष्य के रोदन-अश्रु-क्षार[1] से
महान खारी जल है भवाब्धि का।

(१४)

उठी तरंगें अति घोर वेग से
कि मर्त्य-सीमा-सब ओत-प्रोत है,
प्रशान्ति मे भी छल से न हीन, तो
कराल क्या प्लावन की कथा कहें।

(१५)

कुमार का मानस काल-लब्धि से
हुआ अभिप्रेरित कर्म-नाश में,
विचार आया, क्षय मोह-शत्रु का
अवश्य रत्न-त्रय-हेति[2] से करे।

---

[1]लवण। [2]हथियार।

(१६)

पवित्र चारित्र्य बिना वृथा गया
धरित्रि मे जीवन तीस वर्ष यो,
गये यथा-काल न पुष्प जो चुने
विनष्ट होते उपयोग के बिना ।

(१७)

पुरा हुये श्री ऋषभादि देव जो
प्रसिद्ध तीर्थंकर लोक-लोक मे,
सुदीर्घ आयुष्य उन्हें अवाप्त था—
परन्तु मेरी अति न्यून आयु है ।

(१८)

कृतार्थ-जन्मा प्रभु नेमिनाथ है
स्वकीय जो जीवन सूक्ष्म जान के
अरण्य को जा सुकुमार आयु मे,
मुमुक्षु[1] थे, जीवन-मुक्त हो गये ।

(१९)

मनुष्य साधारण आयु पा यहाँ
वृथा गँवाते दिन अध-बुद्धि है,
तथैव ज्ञान-त्रय-नेत्र-वान मै
बिता रहा वासर अज्ञ-तुल्य हूं ।

---

[1]मोक्ष पाने की इच्छावाले ।

(२०)

हुई न आत्मा यदि कर्म के विना,
न रंच ज्ञान-त्रय-प्राप्ति-लाभ है।
न मोक्ष-लक्ष्मी-मुख जो विलोकता
वने उसी के दृग गोल ग्राव[1] है।

(२१)

गिरे मनीषी यदि मोह-कूप में
वृथा हुई तो सव ज्ञान-अर्जना,
किया करे कोटि उपाय सर्वदा
न प्रज्ञता[2] से कृत कर्म छूटता।

(२२)

मनुष्य मोहादिक भाव मे भले
मरे, न तो भी अघ मे प्रलिप्त हो,
कि मोह उत्पादक राग-द्वेष का,
कि राग-द्वेषादिक घोर पाप है,

(२३)

मनुष्य वैराग्य-कृपाण-धार से
संहार दे मोह दुरन्त शत्रु को,
कि मोह ही सर्व-अनर्थ-मूल है,
अनर्थ का है फल पाप-वृद्धता।

---

[1]पत्थर। [2]पाडित्य।

(२४)

वही जयी है, नर धीर-वीर जो;
वही कृती है जन धर्मवान जो,
धरित्रि मे दुर्जय काम जीतते
न वश्य[1] होते जन लोभ-क्रोध के।

(२५)

विरक्त हो शैशव-यौवनादि से
मुमुर्षु[2] प्राणी गृह-बंध त्यागता;
प्रसक्त हो मोक्ष-सुखानुभूति मे
मुमुक्षु योगी तजता शरीर है।

(२६)

नितान्त ही यौवन मे प्रशान्त जो
वही सुधी शान्त-स्वभाव मान्य है;
हुईं जरा मे जब जीर्ण धातुएँ[3]
प्रशान्ति आयी, तब कौन लाभ है ?

(२७)

शिशुत्व है दूषित निर्विवेक से,
युवात्व है गर्हित काम-भाव से,
रुजत्व से है जरता[4] कलंकिता,
अतीव सोपद्रव जीवनायु है।

[1]वशीभूत। [2]मरने का इच्छुक। [3]रक्त-मासादिक। [4]वृद्धता।

(२८)

विलोकता अश्मक[1] रत्न-बुद्धि से,
तथैव, कान्ता-कुच कंज-कोष-से,
शरीर पंचात्मक आत्म-भाव से,
विमोह-लीला नर की निहारिये।

(२९)

गया जहाँ तत्त्व मिला वहाँ नही,
यहाँ नही क्या कुछ भी वहाँ नही,
विचार देखा, यदि है अवश्य तो,
यथार्थ कैवल्य-पदार्थ विश्व में।

(३०)

कुटुम्ब-चितामय प्राणि-मात्र के,
विनष्ट होते गुण-शील है तथा,
यथा भरा नीर अपक्व कुंभ मे
विनष्ट होता अति अल्प काल में।

(३१)

लगी सटाकी[2]-सम घात मे जरा,
अमित्र है रोग समस्त शत्रु-से,
शनै शनै. आयु व्यतीत हो रही
न मोह में सुप्त मनुष्य जागता।

---

[1]पत्थर। [2]छिहिनी।

(३२)

स्वकीय अंगुष्ठ उरोज-भ्रान्ति से
यथैव पीता शिशु ज्ञान-हीन है,
तथैव प्राणी सुख-भ्रान्ति मे पडा
न पा सका सार असार विश्व का ।

(३३)

निदान ऐसे बहु भाव चित्त मे
हुये समुत्पन्न अनेक बार जो,
कुमार ने निश्चय देह-त्याग का
किया, हुये तत्पर आत्म-बोध मे ।

(३४)

स-भृत्य-मित्रादिक जेष्ठ भ्रातृ को,
सभी जनो को, सव पौर-वृन्द को
वुला लिया सादर ज्ञात-पुत्र[1] ने
समूढ[2] सारे प्रभु-धाम मे हुये ।

(३५)

सभी नरो के संग छद्म-वेष मे
सुपर्व लौकान्तिक आ गये वही,
प्रविष्ट उत्तुग निवेश मे हुये
यथेच्छ-वार्ता-श्रवणार्थ देव से ।

[1]श्री महावीर। [2]एकत्रित ।

(३६)

कुमार ने सादर प्रेम-वाक्य से
किया मुदा स्वागत वधु-वर्ग का,
सु-योग्य दे आसन स्नेह-भाव से
उन्हे विठाया बहु भाँति मान दे।

(३७)

विनम्र-भावान्वित बद्ध-हस्त वे
सुधी क्षमा-याचन-दत्त-चित्त हो,
लगे सभी से विनयानुरोध मे
पवित्र-आत्मा कहने प्रसन्न हो।

(३८)

"स्व-धर्म में संस्थित-बुद्धि हो, सखे !
प्रसाद सद्भाव-समेत माँगता,
अभिन्न ! मेरे अपराध हो क्षमा
किये गये जो अनजान-ज्ञान मे।

(३९)

"सभी जनो को करता क्षमा, तथा
सभी नरो से अब याचता क्षमा,
किये गये जो मन-कर्म-वाक्य मे
वयस्य[1]! मेरे अपराध हो क्षमा।

---

[1]मित्र।

(४०)

“समस्त आचार्य्य, समस्त बंधु से
सभी उपाध्याय सभी स-पक्ष[1] से,
स-धर्म आगतुक-बृन्द से तथा
हुआ क्षमा-याचन-दत्त-चित्त मै।

(४१)

“तुम्हे दिया कष्ट सुबधु! आज जो
क्षमा करे, था अनिवार्य्य कार्य्य भी,
सुने सभी कारण गूढ ध्यान से
क्षमा करे आगम-कष्ट के लिए।

(४२)

“प्रगाढ-निद्रा-वश आज रात मे
हुये मुझे अद्भुत स्वप्न तीन, जो,
बना रहे जीवन-मार्ग की दिशा,
बना रहे है चल चित्त मामकी।

(४३)

“[illegible] पिता को उस वेष मे कि जो
न [illegible] जीवन-काल में रहे,
न [illegible] ही केवल भद्र थे, वरन्
न [illegible] विहाय अन्य था।

(४४)

"स-प्रेम वे सस्मित पूछने लगे,
'अपत्य'! क्या तू पहचानता मुझे ?
सुधी-विनिर्दिष्ट मदीय मार्ग को
कभी करेगा अनुवर्तना न क्या ?'

(४५)

"निषण्ण[२] देखा निज को पुन, सखे !
स्वदेह-अभ्यंतर- अंव-अक मे
लखी स्व-माता कर फेरती हुई
सहर्ष मेरा सिर सूंघने लगी,

(४६)

"तदा दृगो मे भर अश्रु की घटा
सुवृत्त मेरा सव पूंछती हुई,
विलोक आ-शीर्ष-पदान्त[३] सो मुझे
विवाह-चर्चा कुछ छेड़ती हुई।

(४७)

"विलोकती दूलह-वेप मे मुझे
उतारती प्रेम-समेत आरती,
स-हर्पलाजा[४] मुझ पे विखेरती
अलापती मगल-गान थी मुदा।

---

[१]पुत्र। [२]बैठा हुआ। [३]नखशिख। [४]धान के भुने लावे।

(४८)

"तदा लखा अग्रज ! आपको, मुझे
बना रहे भूपति सार्व-भौम थे,
प्रजावती[1] थी संग आपके कि जो
मुझे हँसाती, हँसती स-प्रेम थी।

(४९)

"विचार मैंने इन तीन स्वप्न पै
किया, मुझे निश्चय बन्धु ! हो गया,
विधेय आदेश मुझे यथार्थ ही,
अवश्य जाना गुरु-दिष्ट[2] मार्ग से।

(५०)

"अपत्य को पूज्य पिता-निदेशना[3]
सदैव सम्मान्य, न अन्य मार्ग है,
तथैव माता-अभिलाष-पूर्ति भी
कभी नहीं है अवहेल्य[4] पुत्र से।

(५१)

"मदीय माता करती विवाह ही
चली गयी, किन्तु न ब्याह हो सका,
मिली नहीं इच्छित कन्यका कि जो
सुदुर्लभा, सुन्दर, अद्वितीय हो।

---

[1]भावज। [2]गुरु (पिता) द्वारा बतलाये हुये। [3]आज्ञा। [4]तिरस्करणीय।

(५२)

"अखंड-सौभाग्यवती कलत्र का
अवाप्त होना कुछ खेल है नही,
वही वली पा सकता उसे कि जो
खपे, मरे, और जिये अनेकधा।

(५३)

"सुना किसी से वह दिव्य नायिका
विराजती तेरह-खड[1] धाम पै
अजस्र आरोहण[2] रात्रि-वार का,
सुमार्ग भी दीर्घ त्रयोदशाब्द[3] है,

(५४)

"न शीघ्र-गामित्व, न मद-गामिता
न यान-साहाय्य, न दड-धारणा,
न पास पाथेय[4], न दास-मडली,
तथापि जाना अनिवार्य्य कार्य्य है।

(५५)

"अभूरि-भिक्षा - उपवास - साधना,
अवस्त्र-से ही फिरना इतस्तत,
शयान[5] होना महि-क्रोड में सदा
अजस्र आगे बढ़ना विधेय है।

---

[1]तेरहवाँ गुणस्थान। [2]चढ़ना। [3]१३ साल का। [4]सबल। [5]लेटना।

(५६)

"न सर्प से भीति, न वन्य जन्तु से,
न ग्राम से प्रीति, न काम धाम से,
न खड्ग से त्रास, न हेति से भिया[1]
नितान्त निःशंक प्रयाण ध्येय है ।

(५७)

"जिसे सदा अक्षय सिद्धि श्रेय है,
स्व-चित्त निर्वाण-समीप नेय है,
अजस्र निःश्रेयस-कीर्ति गेय है,
अवश्य कैवल्य उसे विधेय है ।

(५८)

"अतः चलूंगा कल मैं अवश्य ही
मुझे महा-सिद्धि-विवाह ध्येय है
प्रवृत्त होगी कल मार्ग[2]-मास की
पवित्र शुक्ला दशमी मनोरमा ।"

(५९)

सभी जनो ने बहु खिन्न भाव से
कुमार-संकल्प सुना अवाक हो,
परन्तु लौकान्तिक देव-मंडली
तुरन्त बोली जयकार दे उन्हे —

---

[1]डर। [2]मार्ग-शीर्ष मास।

(६०)

"प्रभो ! तुम्ही क्षत्रिय-श्रेष्ठ ! धन्य हो,
तुम्ही प्रतापी जग मे अनन्य हो,
सुमार्ग कल्याण-समेत आप्त हो,
विभो ! तुम्हे सम्यक ध्येय प्राप्त हो।

(६१)

"सदा तुम्हारी जय हो दयानिधे !
समस्त हिंसा क्षय हो, कृपानिधे !
दुरन्त हो नर्तन नष्ट पाप का,
तुरन्त हो वर्तन धर्म-चक्र का।

(६२)

"विनाशकारी घन मोह-शत्रु के
प्रभो ! करोगे जग-हेतु कार्य्य जो,
वहित्र[1] होगा वह विश्व-सिंधु का,
दिनेश होगा भव[2]-रात्रि का वही।

(६३)

"स्व-धर्म-रत्न-त्रय-प्राप्त हो, प्रभो !
धरित्रि में उन्नत भव्य जीव को,
विलीन मिथ्यामत का तमिस्र हो
दिखा पडे मोक्ष-रमा मनोरमा।

---

[1]जहाज। [2]जगत।

(६४)

"प्रभो ! तुम्हारे वचनाम्बुवाह[1] मे
कठोर वैराग्य निविष्ट वज्र-सा,
किया करेगा वह रेणु-सात्[2] ही
विचूर्ण उत्तुंग गिरीन्द्र मोह का ।

(६५)

"नमामि, स्वामिन् ! गुण-सिंधु आपको
नमामि त्रैलोक्य-सुबन्धु ! आपको
नमामि भक्तोदधि-चन्द्र ! आपको
नमामि योगीन्द्र ! मुनीन्द्र ! आपको ।"

(६६)

न जेष्ठ भ्राता नृप [3]युद्धवीर की
दृगम्बु-बुन्दावलि बन्द हो सकी,
अजस्र-धारा बन नेत्र-युग्म से
बही, हुये सम्यक रुद्ध-कंठ वे ।

(६७)

घनिष्ठ प्रेमीजन भी विलोक के,
समर्थ थे अश्रु-निरोध में न जो,
शनै. शनै. रोकर भाव-वारि का
किया परीवाह[4] सभा-समाज मे ।

---

[1]वचन-रूपी मेघ। [2]रेणु-तुल्य। [3]नन्दिवर्धन का गुणकृत नाम ।
[4]बाहर निकालना।

(६८)

समस्त अंत पुर की कुल-स्त्रियाँ,
समागता जो उस काल हो सकी,
विलोक यो नव्य विवाह-प्रक्रिया
दृगम्बु लाजा-सम डालने लगी।

(६९)

वने सभी मौक्तिक स्वाँति-बुन्द वे
पवित्र, जोतिर्मय, स्वच्छ, सात्त्विकी,
गिरे सभी शुद्ध दया-पयोद से
प्रपूत दैवी कर से अजस्र ही।

(७०)

न कामिनी-कुंडल-रत्न भी तथा,
तथा न मोती नृप के किरीट मे,
न रात्रि-नक्षत्र तथा लखे गये,
परार्थ-संवाहित[1] अश्रु है यथा।

(७१)

कुमार हो नाशक अन्य-दुःख के
करो इन्हे स्वीकृत, भेंट लो, प्रभो!
वहे तुम्हारे जिगमीपु[2]! हेतु है
कृतज्ञता से परिपूर्ण भाव ही।

---

[1]दूसरे के लिए बहाये गये। [2]जाने की इच्छा वाले।

(७२)

वियोग की है यह मौन भारती,
दृगम्बु-धारा कहते जिसे सभी,
असीम स्नेहाम्बुधि की प्रकाशिनी
समा सकी जो न स-शब्द वक्ष मे ।

(७३)

सभी यथा-काल चले गये तभी,
मनुष्य आगतुक नारि-वृन्द भी,
लगे सुधी सम्यक दत्त-चित्त हो
स्वकीय-सपत्ति-प्रदान-कार्य्य मे ।

(७४)

बुला-बुला याचक दूर-दूर से
कुमार देते बहु दान-मान थे,
हिरण्य, हीरा, हय, हस्ति हर्म्य[1] के
लुटा दिये केवल एक बार ही।

(७५)

सभी गुणो से अति श्रेष्ठ त्याग है,
न त्याग से उत्तम अन्य साधना,
धरित्रि मे केवल एक त्याग से
सु-पूज्य होते पशु-ग्राव[2]-वृक्ष है ।

---

[1]हवेली (घर) के । [2]पत्थर ।

(७६)

मनुष्य का गौरव दान-मान से,
न वित्त के संचय से कदापि है,
पयोद है सस्थित उच्च व्योम मे,
पयोधि नीची महि मे पडे हुये ।

(७७)

समस्त संपत्ति कुमार दे चुके,
हुये अयाची[1] द्विज-भिक्षु-रंक भी,
रहा न कोई गृह-मध्य पात्र भी
बची करो मे कुश-मुद्रिका शुभा।

(७८)

रहा नही सोच हिरण्य हर्म्य का,
रही न चिंता हय की न हस्ति की,
स्वतंत्र, स्वच्छन्द, ममत्व-हीन हो
कुमार सोये सुख से निशीथ मे।

[द्रुतविलंबित]

(७९)

गगन रत्न-जड़ा मधु-पात्र था,
रजनि-आसव से परिपूर्ण जो,
स-मुद पीकर, संयुत[2] हो गये
सुख-सुषुप्ति-समीहित स्वप्न से ।

---

[1]तृप्त । [2]समेत ।

[वंशस्थ]

(८०)

प्रभूत प्राची विकचीकृता[1] हुई
गुलाब का बाग खिला दिगन्त मे,
समायताकार मिलिन्द-वल्लभा
महा सहा का रवि फुल्ल पुष्प था।

(८१)

उगी हुई आयत अतरिक्ष-सी
प्रभा लिये चुबन-सी सुकोमला
सु-भीरु-नैकटच-समान माधवी
प्रसन्नता से भरती दिगन्त थी।

(८२)

समुद्र के सुन्दर आल-[2]बाल से
उगा, उठा, और चढा, बढ़ा तभी
बिखेरता स्वीय प्रसून-पखड़ी
महा सहा-पादप-सा तमिस्रहा।

(८३)

दिनेश ज्यो-ज्यो अतिरंजना[3]-मयी
प्रभा लिये तारक-देश से बढा,
प्रपात त्यो-त्यो उस अग्नि-कांड में
प्रफुल्ल-कजारुण-पत्र का हुआ।

---

[1]फूली हुई। [2]पेड़ो का थाला। [3]अत्यत रगनेवाली।

(८४)

समतत. क्षत्रिय-कुड-ग्राम के
कुमार-इच्छा प्रतिविंविता हुई,
विलीन आँसू गगनस्थ ऋक्ष से
हुये सभी पौर-समूह के तभी।

(८५)

कुमार-आनदित-चित्त-उत्स[1] से
प्रमोद, हो नि सृत धाम-धाम में,
प्रगाढ फैला; जिस भाँति दीप का
प्रकाश होता घन अधकार में।

(८६)

सभी गृही, और समस्त गेहिनी,
अनूप आनन्द-तरंग मे बहे,
कुमार के मोक्ष-वधू-विवाह से
स-मोद होना सबका यथार्थ था।

(८७)

प्रसून, लाजा, दल, रंग आदि से
समस्त थी सज्जित दर्शकावली,
स-मोद एकत्रित द्वार पै हुई
महा प्रतापी नृप युद्धवीर[2] के।

---

[1]स्रोत। [2]भगवान के भ्राता का नाम।

(८८)

तुरन्त ही दर्शक-वृन्द से सभी
गली तथा मार्ग प्रपूर्ण हो गये
असख्य घटा-ढफ-ढोल-झल्लरी—
मृदंग-वीणादिक बाजने लगे।

(८९)

सजी गयी चन्द्रप्रभाख्य पालकी
कुमार लाये गुरु-भ्रातृ से गये,
प्रभूत रोमांच प्रगाढ प्रेम से
स-नीर थे लोचन युद्धवीर[1] के।

(९०)

कुमार होके शिविकाधिरूढ यो
चले जभी उत्तर ज्ञात-खड[2] को,
प्रसून-वर्षा करने लगे सभी
समूढ नारी-नर हर्ष-युक्त हो।

(९१)

सजे हुये भूषण और मालिका
पवित्र पाटाम्वर[3]-युक्त देह मे
प्रतीत थे श्रीवर[4]-से कुमार यो
चले जभी मोक्ष-वधू विवाहने।

---

[1]नन्दिवर्धन का गुणकृत नाम। [2]स्थल विशेष [3]रेशमी कपड़ा। [4]दूल्हा

(९२)

हुई अनेका अनुगा[1] विलासिनी
सुवासिता, सुन्दरि, मत्तकाशिनी,
समस्त थी मोहक-गान-तत्परा,
समेत-उल्लास, नदी-तरंग-सी ।

(९३)

कुमार थे भूप भगीरथाख्य-से
सुरापगा-वीचि-समूह अंगना,
वहा तभी उत्तर को शनै शनै.
तरंगिणी का उलटा प्रवाह था ।

(९४)

मनुष्य सारे जयकार बोलते
महान-आशीष-प्रदान-लीन थे,
"प्रभो ! तुम्हारी जय हो, प्रमोद हो,
समस्त-कल्याण-निधान आप हो ।"

(९५)

समीर पंखा करता स-मोद था,
पयोद थे ऊपर छत्र-से तने,
चतुर्दिशा सर्व प्रजा समूढ[2] थी,
जिनेन्द्र का साज सुरेन्द्र-तुल्य था ।

---

[1]अनुगामिनी । [2]एकत्रित ।

(९६)

मनुष्य पीछे चल बातचीत में,
निमग्न थे सम्यक प्रेम-भाव मे,
तपोधनो के शुभ वृत्त सोचते,
लगे हुये आपस के विचार मे ।

(९७)

स-हर्ष वार्ता कह 'पार्श्वनाथ' की,
अजस्र चर्चा कर 'नेमिनाथ' की,
सुना रहे थे 'नमि-नाथ' की कथा,
बता रहे थे तप 'मल्लिनाथ' का ।

(९८)

प्रशंसते थे जप 'शान्तिनाथ' का,
सराहते भूरि 'अनन्तनाथ' को,
नृपाल 'श्रेयास,' महीप 'पद्म' की
कही तपस्या 'ऋषभादि-देव' की ।

(९९)

विहाय वैराग्य न चित्त मे कभी
मनुष्य के निस्पृहता समा सकी,
पुरा' सुना है तप के प्रभाव से
विमुक्ति 'श्रीसंभवनाथ' पा सके ।

'प्राचीन-काल मे

(१००)

कुमार-तीर्थंकर 'वासुपूज्य' थे,
कुमार ही हैं प्रभु वर्द्धमान भी,
प्रसिद्ध भू में जिन-धर्म-अग्रणी
कुमार-सन्यस्त[1] अनेक देव हैं।

(१०१)

तुरन्त बीता पथ बातचीत में
समस्त[2] खंका-वन-मध्य आ गये
कुमार आसीन, विहाय पालकी,
हुये शिला पावन चंद्रकान्त पै।

(१०२)

विराग-सप्राप्त मुमुक्षु-भाव से
विलोक ईशान-मुखी कुमार को,
प्रशान्त कोलाहल, शान्त, चित्त हो
समस्त दीक्षा अवलोकने लगे।

(१०३)

कहे गये चौदह अंतरग के
परिग्रहो को, दश बाह्य ख्यात जो,
विहाय आभूषण, वस्त्र, मालिका,
विशुद्ध बैठे मन-वाक्य-काय से,

---

[1]कुमारावस्था में ही सन्यास ग्रहण करनेवाले। अथवा, राजकुमार जो सन्यासी हो गये। [2]समस्त प्राणी

(१०४)

प्रसिद्ध अट्ठाइस जो प्रधान है
गणावली, सो परिपालते हुये
तथैव आतापन-योग-जन्य जो—
स-हर्ष की स्वीकृत गुप्ति सो सभी।

(१०५)

सु-योनि[1] जो सर्वगुणानुवृत्ति की
विशिष्ट सामायिक सयम-क्रिया,
कुमार ने स्वीकृत की सभी तभी
समस्त-प्राणी-प्रति-साम्य-भाव से ।

(१०६)

प्रतप्त चामीकर[2] के समह-सी
कुमार की सर्व-शरीर-कान्ति थी,
महान शोभा प्रभु-अंग-अग की
विलोकती थी जनता समुत्सुका।

(१०७)

महा तपस्यामय-तेज-पुज से
ललाट-आभा अधिकाधिका वढ़ी,
विमुक्ति का निश्चय दृष्टि-कोण से
मयूख-सा नि सृत भासने लगा ।

---

[1]उत्पत्ति-स्थान। [2]सुवर्ण।

(१०८)

मनोज्ञ थी उन्नत-घोण[1] नासिका
गुलाब-से मंजु कपोल-युग्म पै,
यथैव चिता-चिमि[2] आस्य-नीड से,
उड़ी, न होगी अब सो निवर्तिता ।

(१०९)

प्रसन्न था आनन ज्ञात-पुत्र का
सतोगुणाभास-समेत राजता;
सरोजिनी-के-पुष्प-दलानुकारि थे
मनोज्ञ दोनों श्रुति[3] कान्ति-राशि-से ।

(११०)

त्रिरेख-संयुक्त अनूप कंठ था,
महान-शोभा-मय कंबु-सा लसा,
अलग्न अद्यावधि[4] नारि-वक्ष में
सुपुष्ट था वक्ष-कपाट सोहता ।

(१११)

प्रलंब आजानु[5] भुजा विराजतीं,
मनोरमा कल्प-लता-समान ही,
अलक्त दोनों कर की हथेलियाँ
लसी हुई थीं युग शोण[6]-द्रोण[7]-सी ।

---

[1]नाक की दीवार, जो बीच में उठी हो । [2]शुक । [3]कान । [4]आच्छादक ।
[5]जानु तक लटकी हुई । [6]लाल । [7]पत्ते का दोना ।

(११२)

गंभीर-आवर्त[1]-समान शोभना
उदार-भावा उदरस्थ नाभि थी,
अतीव तन्वंग[2] मृगेन्द्र-लक-सा
नितान्त ही क्षाम[3] कटि-प्रदेश था।

(११३)

महान आश्चर्य्य! कि नग्न जानुएँ
जिन्हे न अद्यावधि[4] देख ही सकी,
उन्ही करों मे करि के मिलिन्द-सी
विलग्न-नेत्रा बहु कामिनी हुईं।

(११४)

समागता यो जनता समुत्सुका
विलोकती थी चरणाभिरामता;
निहारती ज्यों झष-झारि[5] कंज को
पयस्विनी मे अनिमेष नेत्र से।

(११५)

विलोकते ही उदयाद्रि-शृंग प
हुये दिनेशाभिमुखी सरोज ज्यो,
सभी नरो के परिबद्ध हस्त भी
हुये उसी भाँति जिनेन्द्र-समुखी[6]।

---

[1]भौंर। [2]पतली। [3]पतला। [4]आजतक। [5]मछलियो का समूह।
[6]जिनेन्द्र के सम्मुख।

(११६)

वने सभी सस्तुति-लीन यो तभी
मनुष्य वोले कल कोटि कठ से
"प्रभो ! तुम्हारी जय हो, तुम्ही, विभो !
धरित्रि-गामी[1] परमात्म-रूप हो।

(११७)

"मदादि-शत्रुजय हो, जिनेन्द्र हो,
गुणाढ्य, रत्नाकर हो, सुरेन्द्र हो,
प्रभो ! जगत्ताप-प्रशात-कारिणी
त्वदीय दीक्षा जन-रक्षिका बने।

(११८)

"नमोस्तु ते, देह-सुखाति-निस्पृही
नमोस्तु ते मोक्ष-रमार्ध-विग्रही[2],
नमोस्तु ते हे अपरिग्रही,[3] प्रभो !
नमोस्तु ते भक्त-अनुग्रही, विभो !

(११९)

"अहो ! अलकार विहाय रत्न के
अनूप-रत्न-त्रय-भूपिताग हो,
तजे हुये अवर अग-अग से,
दिगवराकार विकार-शून्य हो।

---

[1]पृथ्वी पर चलने वाले। [2]मोक्ष-लक्ष्मी के पति। [3]असग्रही।

(१२०)

"समीप ही जो पट देवदूष्य है,
नितान्त श्वेताबर-सा बना रहा,
अ-ग्रथ, निर्द्वन्द्व महान संयमी,
बने हुये हो जिन-धर्म के [1]ध्वजी ।

(१२१)

"समेत हो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य के,
निकेत हो चार प्रकार ज्ञान के,
उपेत हो वीर ! दया-क्षमादि से
प्रचेत[2] हो हे प्रभु ! शुक्ल ध्यान के ।

(१२२)

"नितान्त[3] हो इच्छुक आत्म-सौख्य के
निरीह कैसे तुमको कहे, प्रभो !
कि मोक्ष का है अनुराग, जो तुम्हे
न ज्ञात, कैसे तुम वीत-राग हो ?

(१२३)

"प्रसिद्ध-रत्न-त्रय-संग्रही ! तुम्हे
नितान्त निर्लोभ कहे, अयुक्त है ।
त्रिलोक-राज्येश बने प्रयत्न से
न कीर्तिभागी तुम राज्य-त्याग के ।

---

[1]ध्वजा वाले । [2]जानने वाले । [3]अथ व्याज-स्तुति ।

(१२४)

"चला-चला वाण स्व-ब्रह्मचर्य्य के
अभर्तृका[1] काम-वधू वना दिया
अहो ! कृपा रचक की न पाप पै
कुमार ! ऐसे करुणानिधान हो !

(१२५)

"सदैव आशा रख मोक्ष-प्राप्ति की
हुये यशस्वी 'अभिलाष-शून्य हो
तुरन्त त्यागा जब वंश-बंधु,[2] तो
कुमार ! कैसे तुम विश्व-बंधु हो ।

(१२६)

"विहाय भोगावलि सर्प-भोग[3]-सी
निपीत-पीयूष-विशुद्ध-ज्ञान हो,
प्रभो ! वताये यह जाइए हमें,
व्रती ! वनें प्रोपध[4] के कि सत्य है ।"

(१२७)

प्रशान्त . वैठे दृढ ग्राव-मूर्ति-से
नितान्त ही निश्चल-अग ध्यान मे,
इसी घडी ज्ञान हुआ कुमार को
अवश्य कैवल्य-अवाप्ति ध्येय है ।

---

[1]विधवा । [2]वशके भाई लोग । [3]फन । [4]व्रत विशेष ।

(१२८)

निशेश था अर्यम[1]-ऋक्ष-योग में
मुहूर्त आया विजयाख्य था जभी
पवित्र-दीक्षा-दिन-अत-याम में
हुये प्रतिज्ञा-परिबद्ध देव यो —

(१२९)

"हुआ मुझे स्वीकृत साम्य आज से;
निवृत्त-सावद्य[2] चरित्र मै हुआ;
प्रवृत्त हो सर्व-विराग-भाव में
किया करूँगा अब मोक्ष-साधना।"

(१३०)

दृढा प्रतिज्ञा कर ज्ञात-पुत्र यों
मुदा विदा लेकर ज्ञाति-बंधु से,
गये जहाँ थीं ऋजु-बालिका नदी
समाज सारा अनुवर्तमान[3] था।

(१३१)

कुमार पीछे फिर देख एकदा,
स-प्रार्थना हो कर-वद्ध प्रेम से,
कहा सभी से, "प्रभु-प्रेम-पूर्ण हो
करो, सखे! लोचन बन्द ध्यान मे।"

---

[1]उत्तरा फाल्गुनी। [2]पाप रहित। [3]पीछे पीछे चलते हुये।

(१३२)

तभी सभी लोग निमीलिताक्ष हो
खड़े हुये एक मुहूर्त के लिए;
पुनः उघारे दृग तो न थे वहाँ
मुनीन्द्र-संपूजित साधु-अग्रणी।

(१३३)

जहाँ खड़े थे उस दिव्य भूमि पै
पड़ा हुआ कर्पट[1] देव-दूष्य था;
न ज्ञात था किन्तु किसी मनुष्य को
कुमार कैसे, किस ओर को गये।

[द्रुतविलंबित]

(१३४)

हित नखायुध[2] के गिरि-कंदरा,
विहग के हित नीड़ बने हुये,
पर महा जन-सेवक के लिए
स्व-गृह या पर-गेह कहीं नहीं।

---

[1]कपड़ा। [2]सिंह।

पंद्रहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

कुमार दीक्षा स्वयमेव ले चले
सभी जनो को प्रभु-भक्ति दे चले,
द्वितीय-प्रत्यूष-अलिन्द[1] में उन्हे
मिली मुदा कानन-कान्त-संपदा।

(२)

निसर्ग का मंदिर दिव्य रूप था,
बना किसीके कर से न जो कभी;
प्रकाश से सूर्य्य-निशेश-ऋक्ष के
सु-भव्य था, सुन्दर ज्योतिमान था।

(३)

सु-भित्तियाँ अष्ट-दिशा-स्वरूपिणी,
मनोरमा थी छत अंतरिक्ष की;
हरी-भरी घास-समेत भूमि पै
बिछा हुआ विष्टर[2] था सुहावना।

---

[1]दूसरे प्रभात का बरामदा। [2]गलीचा।

(४)

प्रसन्नता-संयुत वृक्ष-मंडली;
चतुष्पदाक्रान्त[1] समस्त भूमि थी;
विमोहती थी विटप-स्थिता पिकी,
प्रवाहिता थी नदियाँ सु-चन्द्रिता।

(५)

मनुष्य एकान्त-निवास में जभी
विवाह लेता प्रकृति-स्मिता-वधू
अवश्य सो संगम-काल में उसे
विमोहती है कह वैखरी[2] गिरा।

(६)

सुगन्ध लाती मृदु पत्र-पुष्प में
सुरंग देती भर है कुरंग में,
विचित्र नैसर्गिक शक्ति सो, कि जो
मनोज्ञ देती स्वर है विहंग को।

(७)

धरित्रि देखो, किस मातृ-भाव से
सुला रही पल्लव जो गिरे हुये,
वनेचरों[3] को निज अंक में लिये
प्रशान्ति देती बहु भाँति है उन्हें।

---

[1] जंगली जानवरों से भरी हुई। [2] कंठ-द्वारा उच्चारित। [3] जंगली जानवर।

(८)

निसर्ग के विस्तृत गुप्त ग्रंथ को
पढ़ा जिन्होने नर वे महर्षि थे,
खुला जभी भेद, सुपर्व थे युवा,
वसुन्धरा थी युवती मनोहरा।

(९)

"शिला स-रत्ना, खनि-युक्त शैल भी,
न चाहिये योजन-गधिका[1] हमे;
निसर्ग ! दे ज्ञान स्वकीय धर्म का,
धरित्रि मे ही सुख स्वर्ग्य प्राप्त हो।"

(१०)

विचार ऐसे करते हुये सुधी
बढ़े जभी तापस-वेश देश मे,
अनेक ग्रामों, नगरो, गृहो, वनों
पुरो, पथो मे चलते अजस्र थे।

(११)

न मद थी और न तीव्र चाल थी,
न इष्ट कोई पथ था, न देश था,
समक्ष भिक्षा धरते स्पृही कही,
गृही कराते उपवास-पारणा।

---

[1]कस्तूरी।

(१२)

निमग्न ईर्या-पथ[1]-शुद्धि मे हुये,
अभक्ष्य-भक्ष्यौदन के विचार में,
अशुद्ध भिक्षान्न कि शुद्ध है, इसे
विचारते ही व्रत देव ने लिया।

(१३)

"सदा रहूँगा कर-पात्र आज से
विधेय भिक्षार्थ न प्रार्थना मुझे,
स-मौन ध्यानस्थ मुझे अवश्य ही
अनिष्ट-सस्थान-निवास त्याज्य है।"

(१४)

अत परे[2] देव सदा मृगेन्द्र-से
विभावरी मे फिरते अभीत थे
श्मशान मे निर्जन भूमि मे तथा
असंग शैलाटन में प्रवृत्त थे।

(१५)

कभी नदी-कूल-समूढ रेणु में,
प्रचंड-मध्यान्ह-दिनेश-ताप में,
निदाघ के पूर्ण प्रतप्त काल मे
निविष्ट होते प्रभु ज्ञान-मग्न थे।

---

[1]चार हाथ आगे देखकर चलना। [2]इसके अनन्तर।

(१६)

कभी किसी पर्वत-शृंग पै तथा
प्रचड झंझानिल के झकोर मे,
स्व-देह पै कंबल धैर्य्य का धरे
बिता रहे प्रावृट् ध्यान-लीन थे।

(१७)

कभी सुधी भीषण शैत्य मे पडे
विलोक शीतर्तु क्षुप-प्रदाहिनी[१],
स्वकीय ध्यानानल मे प्रलिप्त हो
शयान होते वह रात्रि मे मुदा।

(१८)

निबाहते थे तप षष्ठ[२] भाँति के,
स-ज्ञान-कर्मेन्द्रिय- जीतते हुये,
सदैव हो स्वस्थ, निलीन ध्यान मे,
अजस्र कर्म-क्षय-यत्नवान थे।

(१९)

प्रभाव मे आकर आत्म-ध्यान के
समस्त कर्मास्रव बन्द हो गये;
तपे यती द्वादश योग-ताप मे
सु-दीर्घ-कालावधि यत्नवान हो।

---

[१]वृक्षो को जला देनेवाली। [२]दो दिन का उपवास।

(२०)

हुये क्षमा मे स्थिर भूमि-तुल्य ही,
प्रसन्नता निर्मल नीर-सी हुई,
कुकर्म के कानन के प्रदाह मे
सुकर्म-व्यायी ज्वलदग्नि[1]-तुल्य थे।

(२१)

क्षुधा-तृषा-भूत प्रभूत देह के
परीषहो को वह जीतते हुये,
चले स्व-निर्दिष्ट कठोर मार्ग में
महाव्रतो को परिपालते हुये।

(२२)

गुणावली उत्तर-मूल नाम की,
जिसे सुधी पालन में समर्थ थे,
बना रही धर्म-धुरीण थी उन्हें,
दिला रही थी सब सिद्धि-सपदा।

(२३)

न भीति थी तस्कर की न चौर की,
कदापि शंका सरि से न सिंधु से,
समान दोनो दिन-रात्रि थे उन्हें
न विश्व-वैपम्य-विभावना[2] रही।

---

[1]जलती हुई अग्नि। [2]धारणा।

(२४)

इसी दशा मे प्रभु को शनै. शनैः
व्यतीत थे द्वादश वर्ष हो गये,
कि एकदा रात्रि-चतुर्थ-याम में
समस्त-जन्मान्तर-ज्ञान हो गया।

[द्रुतविलंबित]

(२५)

जिस प्रकार जलौक[1] तडाग मे
प्रथम छोड़ द्वितीय तृणाग्र को,
पकडके चलता अति शीघ्र है,
बस, यही गति है जग-जीव की।

[वंशस्थ]

(२६)

जिनेन्द्र के संचित पुण्य कर्म से,
महा तपस्या, व्रत, योग, धर्म से,
परीषहो के परिपूर्ण नाश से
समंतत· केवल-ज्ञान-काश[2] से:

(२७)

सुवृत्त आये सब पूर्व जन्म के,
विचार छाये भव[3]-आदि-काल के,
प्रवृत्ति हो उन्नत उत्तरोत्तरा
विवृत्ति-सी प्रस्फुटमान हो गयी।

---

[1]जोक। [2]प्रकाश। [3]जन्म।

(२८)

स्मृति-स्थिता पूर्व-कथा हुई उन्हे
पुरुरवा-नामक व्याधं थे यदा,
मिली उन्हे उत्तम धर्म-वुद्धि थी
किसी तपस्वी मुनि धर्म-वुद्धि से।

(२९)

त्रिलोक-लक्ष्मी-प्रद धर्म ख्यात है,
विहीन जो है मधु-मद्य-मास से,
उदुम्बरो के सब भाँति त्याग से
अवाप्त होता व्रत से सदैव जो।

(३०)

हुई वही उत्थित धर्म-भावना
पुरूरवा-जीवन धन्य हो गया,
तृषार्त को ज्यो अति ग्रीष्म-काल मे
उपप्लुता[1] पुष्करिणी मिले कही।

(३१)

पुन जगी सुस्मृति चित्त मे कि वे
पुरूरवा से सुर-तुल्य हो गय,
सुपर्व[2] से आकर जीव-लोक में
प्रसिद्ध थे देव मरीचि नाम से।

---

[1]लवालव। [2]वैकुठ।

(३२)

'मरीचि' के जीवन मे हुई उन्हे
महान इच्छा कि अवाप्त हो कही,
वरेण्य नेतृत्व समस्त विश्व का,
स्वकीय-सिद्धान्त-प्रचार-कार्य भी।

(३३)

पुन. जगी सुस्मृति, विप्र-वश मे
प्रसिद्ध जैसे वह 'पुष्य-मित्र' थे,
तभी किया चारु प्रचार विश्व मे
अपेल्य[1] सिद्धान्त प्रमाण साख्य का।

(३४)

तदा हुये 'अग्निसहाख्य' विप्र वे
महा-परिव्राजक धर्म-अग्रणी,
पुन. हुये ब्राह्मण 'अग्निमित्र', जो
प्रसिद्ध मीमासक थे धरित्रि मे।

(३५)

पुन किया चिंतन वीर ने कि वे
हुये 'भरद्वाज' निरुक्त[2]-विज्ञ थे,
परिश्रमी पंडित धर्म-शास्त्र के
प्रसिद्ध थे खडन मे अधर्म के।

---

[1]न हराये जाने वाले। [2]वेद की शाखा।

(३६)

पुन हुआ ध्यान उन्हे कि वे सुखी
प्रसिद्ध थे 'स्थावर' नाम से कभी
स-वेद वेदाग स-शास्त्र धर्म के
महान् ज्ञाता द्विज पूज्य-पाद थे।

(३७)

तथैव आयी सुधि वीर देव को
कि 'विश्वनदी'-सुत 'विश्व-भूति' के
महा प्रतापी वलवान विक्रमी
अजेय योद्धा जव वे प्रसिद्ध थे।

(३८)

पुन. हुये संसृति में प्रसिद्ध वे
'त्रिपिष्ठ नारायण' नाम से कभी
मिला उन्हें उत्तम चक्र-रत्न था,
प्रतीक[1] जो धर्म-प्रचार-कार्य का।

(३९)

विलोक होते निज आयु क्षीण वे
असार संसार विचार चित्त में,
विराग से साघु हुये, तथा गये,
स-क्रोध त्यागा तन, देव-लोक को।

---

[1]चिह्न।

(४०)

रहे कई जीवन भूमि-पाल वे
पुनश्च त्यागी निज देह मन्यु[1] मे;
अत. हुये कर्म-विपाक से तभी
प्रचड पंचानन उच्च अद्रि पै।

(४१)

पुन. हुआ ध्यान उन्हे कि पाप से
महान हिंसा-मय कर्म से तथा
मरे, हुये वीर पुन मृगेन्द्र ही
समुच्च जम्बूमय सिद्ध-कूट पै।

(४२)

सुतीक्ष्ण थे दत, कराल मौलि से
मराल खाते वह एकदा मिले,
मुनीन्द्र मृत्युंजय को वनान्त मे;
अत उन्हे शिक्षण साधु ने दिया —

(४३)

"मृगेन्द्र ! क्या तू निज पूर्व-जन्म मे
त्रिपिष्ठ नारायण नाम भूप था ?
समस्त भोगे भव-भोग, तृप्त हो,
व्यतीत सारे दिन सौख्य से किये।

---

[1]क्रोध।

(४४)

"नितंबिनी, सुन्दरि, मत्तकाशिनी
कुरंग-नेत्रा, वर-वर्णिनी तथा
वधू नतांगी, ललिता, तुझे मिली
विलासिनी, अंचित्भ्रुवा,[1] मनोहरा।

(४५)

"परन्तु तू जो विषयाब्धि में पड़ा,
न ध्यान हो हो! कुछ धर्म में दिया,
महान पापोदय ने घिरा जभी
मरा, हुआ एक प्रसिद्ध नारकी।

(४६)

"कठोर पाये दुख, कृच्छ[2] कष्ट भी,
विषण्णता, क्लेश तथैव यातना,
महान हिंसा-प्रिय सिंह था, अतः
शरीर काटा वह खड्ग गया।

(४७)

"मृगेन्द्र-देही बन तीन जन्म यों
महान हिंसामय पाप भी किये,
न चेतना क्या अब भी तुझे हुई?
न ज्ञान आया, बहु खेद है मुझे।

---

[1]भौं ताने हुये। [2]कठिन।

(४८)

"मृगेन्द्र ! तू दुर्गति-नाश के लिए
अत. अभी ही तज क्रूर कर्म वे,
न जो दिलाते पद स्वर्ग का तुझे,
पुन पुन यो भव-भार भोगता।

(४९)

"स्वकीय कल्याण-हितार्थ सिंह तू
तजे सभी खाद्य अखाद्य शीघ्र ही;
अवश्य होगा दुख दूर अंत मे
तुझे मिलेगा बहु सौख्य, हे सखे !

(५०)

"मृगेन्द्र ! तेरे दश जन्म बीतते
महान होगा जन ज्ञानवान तू,
प्रसिद्ध तीर्थंकर वीर ! कीर्ति के
समेत होगा धुर[1] धर्म-चक्र का।"

(५१)

सुने जभी वाक्य महा मुनीन्द्र के
मृगेन्द्र को ध्यान हुआ स्व-जाति का,
शरीर काँपा, जल नेत्र से चला
तथैव रोमांच हुआ तुरन्त ही।

---

[1] धुरा।

(५२)

पुन पुन ध्यान दिला-दिला उसे,
समस्त वृत्तान्त सुना-सुना उसे,
मुनीन्द्र ने केवल-ज्ञान-वृक्ष के
उगा दिये अंकुर चित्त-क्षेत्र में।

(५३)

कहा, "न होगा, अब है, न हो गया,
सु-धर्म कोई इस विश्व-मार्ग में
समान हो केवल-ज्ञान के, सखे!
त्रिलोक-सम्भूति-प्रदान जो करे।

(५४)

प्रभूत भू-भूतिद[1] जैन-धर्म है,
स्व-धर्म-संस्थापन पुण्य कर्म है,
न तुल्य कोई कृत धर्म-कर्म के,
न कृत्य कोई अतिरिक्त त्याग के।"

(५५)

मुनीन्द्र के वाक्य मृगेन्द्र के लिए
अघौघनाशी हितकारि यों हुये,
नखी[2] अहिंसा-व्रत पालता हुआ
द्युलोक[3] को अंतिम काल में गया।

---

[1]संपत्ति देनेवाला। [2]सिंह। [3]स्वर्ग।

(५६)

पुनश्च हेम-प्रभ ग्राम मे कही
कुमार हेमोज्ज्वल नाम से हुये,
सुधी, यथा-काल अधीत-शास्त्र हो
बडे प्रतापी, बलवान भी, हुये।

(५७)

कुमार थे सस्थित एकदा किसी
महीध्र[1] के मजुल तुग-शृग पै
उसी घडी एक मुनीन्द्र से सुधी
लगे मुदा धर्म-रहस्य पूछने।

(५८)

परिक्रमा दे मुनि को त्रिबार वे
विनीत हो दड-प्रणाम आदि मे
लगे नत-ग्रीव[2] कुमार पूछने
"कहो, मुने! गुप्त रहस्य धर्म का।"

(५९)

मुनीन्द्र बोले, "शुभ धर्म है वही
प्रसिद्ध नि श्रेयस[3]-प्राप्ति-हेतु जो
त्रिलोक-स्वामित्व-प्रदान-कार्य मे
सदा रहे दक्ष अनन्य मित्र-सा।

---

[1]पहाड। [2]नत ग्रीवा किये हुये। [3]मुक्ति।

(६०)

"दशांग श्रीमूल-गुणाढ्य धर्म को
निवाहना, इन्द्रिय-चौर जीतना,
तपस्विता निश्चय ही मनुष्य को
प्रकाम देती फल पूर्व-पुण्य का।

(६१)

"महान योद्धा मद-मोह-द्रोह हैं,
प्रहार तू संप्रति काम-क्रोध भी,
अभी तुझे यौवन-शक्ति-प्राप्त है
पुनः करेगा बन वृद्ध गृद्ध[1] क्या?

(६२)

"प्रशान्त हो जो नव आयु में सुधी
यथार्थ ही शान्त उसे पुकारते,
विनष्ट होती जब सप्त धातुएं
प्रशान्ति आती किस जीव में नहीं?'

(६३)

मुनीन्द्र के वाक्य सुने; कुमार भी
विचारने भूरि लगा स्व-चित्त में;
विमुक्ति-संपादन-दत्त-चित्त हो
लगा सुधी सम्यक धर्म-कर्म में।

---

[1]बुड्ढे गीध की भाँति।

(६४)

[1]विजित्य बाह्यान्तर दो प्रकार के
परिग्रहो को, अति शान्त भाव से
स्वकीय-मोक्षार्थ अरण्य-वास ले
स-धर्म दीक्षा द्रुत ली कुमार ने ।

(६५)

कुध्यान त्यागे युग, आर्द्र-रौद्र भी,
तुरन्त लेश्या[2] सब छोड दी मृपा
विहाय चारों विकथा कुमार ने
समस्त त्यागे भव-जाल अत मे;

(६६)

अरण्य मे वास किया, प्रशान्त हो,
तथा तपस्या दश-दो[3] प्रकार की
प्रकाम की मूलगुणानुरक्त हो,
जिये हुये देव सहस्र वर्ष के ।

(६७)

पुन सुधी कोशल-देश मे हुये
प्रसिद्ध राजा हरिषेण नाम के,
महा यशस्वी, अति ओजवान हो
किया सु-संचालन धर्म-राज्य का ।

---

[1]जीतकर। [2]कषाययुक्त प्रवृत्ति । [3]बारह ।

(६८)

समेत सामायिक-प्रोपवादि के
निकेत धर्माचरणादि के वने;
नृपाल वे प्रासुक-दान-धर्म में
रमे रहे तीर्थ-प्रयाण में मुदा।

(६९)

मुनीन्द्र-योगीन्द्र तथैव केवली
नृपाल वे साधु-समाज संग ले,
व्यतीत यों ही करते सदैव थे
स्वधर्म-संलग्न समस्त काल भी।

(७०)

महान थे पंडित राजनीति के,
विशाल थे दान-प्रसक्त[1]-चित्त भी,
कदापि पाया रिपु ने न पीठ ही,
न अन्य योषा नृप-वक्ष छू सकी।

(७१)

नृपाल वे आर्त मनुष्य की सदा
विनाशते थे बहु ग्लानि यत्न से,
न शार्ङ्ग-धन्वा-वृत थे तथापि वे
मुकुन्द थे भू-पर युग्मबाहु के।

---

[1]संलग्न।

(७२)

स-काम-धर्मर्थि-विमुक्ति हेतु ही
सदा बिताते निज काल धर्म मे,
परन्तु सम्प्राप्त हुई जरा जभी
नृपाल कान्तार[1]-निविष्ट हो गये।

(७३)

नरेन्द्र हो दीक्षित जैन-धर्म मे,
विनाशते थे तप-वज्र-घात से
स्व-कर्म-शैलेन्द्र, स्व-धर्म-हेति से
सँहारते इन्द्रिय-शत्रु-सैन्य थे।

(७४)

मृगेन्द्र-से पर्वत-कदरादि मे
विहार यो ही करते अजस्र थे,
स-सर्प भू मे वह भीति-हीन हो
शयान होते, रत ज्ञान-ध्यान में।

(७५)

तुषार-वर्षा-मय शीत-काल मे
स्व-ध्यान-ऊष्मा[2]-मय-योग-मग्न थे;
दवाग्नि-वर्षा-मय-ग्रीष्म-काल मे
स्व-ज्ञान-शैत्याश्रय-भोग-लग्न थे।

---

[1] वन। [2] गर्मी।

(७६)

व्यतीत आयुष्य इसी प्रकार से
हुआ, सहे उत्कट काय-क्लेश भी,
बना निराहार शरीर अंत में
समाधि ले प्राण-विहीन हो गये।

(७७)

पुन. लिया जन्म मरीचि-जीव ने
सुमित्र-नामा नृप के निवास में,
उसे सुशीला जननी मिली तथा
पुरी मिली सुन्दर पुंडरीकिणी।

(७८)

महान प्यारा प्रिय-मित्र नाम था,
प्रसिद्ध थी कीर्ति, विशुद्ध कान्ति भी,
शरीर-भूषा सुर-देह-तुल्य थी
समुच्च मेधा,[1] दिग-नाग-शक्ति थी।

(७९)

कुमार आस्था[2] जिन-धर्म मे बढी
पढी सभी भूपति-नीति प्रीति से,
मिला उसे था अधिकार राज्य का
युवा-अवस्था जब प्राप्त हो चुकी।

---

[1]बुद्धि। [2]विश्वास।

(८०)

अपार सेना अति-शक्ति-शालिनी,
चतुर्दिशा जीत नृपाल-मंडली,
स-हर्ष लौटी निज देश को जभी
न चक्रवर्ती उस-सा रहा कही ।

(८१)

दशांग-भोगी प्रिय-मित्र को रही
न कामना किंचित अर्थ-काम की,
स्व-धर्म-द्वारा शुभ मुक्ति-साधना
सदैव थी श्रेय, सुकर्म ज्ञेय थे ।

(८२)

समुच्च देवालय भी बना सुधी
स-रत्न की स्थापित हेम-मूर्तियाँ;
स्व-गेह चैत्यालय मे स-भक्ति सो
सदैव पूजा करता नृपाल था।

(८३)

सदा रहा आशुक-दान-लीन सो,
नृपाल यात्रा करता स-भक्ति था;
कुटुम्ब-संयुक्त चरित्र ईश का
स्व-धर्म-गाथा सुनता स-प्रेम था ।

(८४)

किये हुये कर्म सभी नृपाल सो
सदैव सामायिक से विनाशता,
स्व-धर्म का पालन दत्त-चित्त हो
मनीषि[1] ने सम्यक ज्ञान से किया ।

(८५)

पुन किसी काल नृपाल सात्वकी
कुटुम्ब-सयुक्त सुपर्व पूजने
जिनेन्द्र-क्षेमकर-वदनार्थ सो
गया, सुना यो उपदेश धर्म का —

(८६)

"विशाल साम्राज्य, महान सौख्य भी,
मनुष्य-द्वारा जित[2] सपदा सभी
अवश्य होते क्षय-प्राप्त अत में
विनाश-प्रत्यत समस्त विश्व है ।

(८७)

"न रोग से छूट, न मुक्ति क्लेश से,
न दुख से मोक्ष शरीरवान को,
न प्राणियो को सुख कर्म मे कभी,
मनुष्य का एक शरण्य[3] धर्म है ।

---

[1]विद्वान । पडित । [2]जीती हुई । [3]शरण-स्थान ।

(८८)

"अवाप्त रत्न-त्रय का वहित्र हो,
महा जगत्तप्त-पयोधि पार हो,
यहाँ अकेले करना प्रयत्न है,
न संग कोई सुत है, न नारि है।

(८९)

"शरीर को भी अपना न मान के,
सभी मलो की खनि देह जानके,
स्व-धर्म का पालन ही स्व-कर्म है
विकर्म है अर्थ, अकर्म काम है ।

(९०)

"मनुष्य की देह-तरी तरंत[1] है,
तथा सभी इन्द्रिय छिद्र-तुल्य है
जभी हुआ आस्रव[2] कर्म-नीर का
बचा नही जीवक कर्ण-धार भी ।

(९१)

"अत करो धर्म-प्रपत्ति मुक्तिदा,
सदा तपस्या-रत आयु दो बिता,
न केवली के उपदेश के विना
मनुष्य कोई भव-मोक्ष पा सका ।

---

[1]तैरती हुई । [2]आगम ।

(९२)

"सुखीजनो की सुख-वृद्धि के लिये
दुखी नरो के दुख के विनाश को
जिनेन्द्र-संपादित धर्म-सावना
खुली हुयी है नव-रत्न-पण्य-[1]सी।

(९३)

"वही सुखी है, वह पूज्य विज्ञ है,
वही सुखी है, जग मे अधिज्ञ[2] है,
स्वकीय आत्मोन्नति-हेतु सर्वदा
जिनेन्द्र-पूजा करता स-भक्ति जो।"

(९४)

मुनीन्द्र-द्वारा उपदिष्ट धर्म की
स-प्रेम दीक्षा प्रियमित्र ने मुदा
हृदिस्थिता की, अति शान्त भाव से—
विराग से—पूर्ण प्रसन्न हो गया।

(९५)

प्रमाद से हीन हुआ व्रतस्थ सो,
तुरन्त की स्वीकृत भूमिपाल ने
गुणावली उत्तर-मूल की द्विधा,
निरोध[3] कर्मास्रव का किया तथा।

---

[1]बाजार। [2]ज्ञानी। [3]रोक। रोकना।

(८८)

प्रवृत्ति सर्वज्ञ-विभावना-मयी
हुई अवाप्ता वह सर्व-दर्शिता,
मिला उन्हे भूत-भविष्य-काल का
त्रिलोक का सम्यक ज्ञान अत मे।

(८९)

हुआ उन्हे यों व्यवधान[1] सूक्ष्म का—
सुविज्ञता मूर्त-अमूर्त द्रव्य की—
कि देवता-दुर्लभ ज्ञान-प्राप्ति से
हुये प्रचेता भगवान अत मे।

(९०)

कलोलने पादप पै खगावली
लगी, वनी मोद-मयी महान ही,
रहे नदी में पृथुलोम[2] कूदते
विलोकते ही अनिमेप हो गये।

(९१)

सुहावना माधव-मास मंजु था
प्रसन्नता से परिपूर्ण रोदसी,
चतुर्थ था वासर-याम भी, जभी
मिला, अहो! केवल-ज्ञान देव को।

---

[1] ज्ञान। [2] मछली।

(१००)

कुमार धर्मी बन बाल्य-काल में
जिनेन्द्र-सपूजन-दत्त-चित्त था,
समस्त संस्कार स्व-धर्म के उन्हें
बना रहे थे अति धन्य विश्व में ।

(१०१)

"मुदा गये नंदकुमार एकदा
सकाश में प्रोष्ठिल साधु के, जहाँ
सुनी दशांगा जिन-धर्म की कथा
पवित्र-आत्मा वह शीघ्र हो गये।

(१०२)

"उपद्रवी के प्रति भी न क्रोध हो
कही गई सो अति उत्तमा क्षमा,
कठोरता को सब भाँति त्यागना
द्वितीय है मार्दव[1] अंग धर्म का।

(१०३)

"सदा मनो-वाक्य-शरीर-जात[2] जो
महान कौटिल्य, उसे विनाशना,
तृतीय है आर्जव अंग धर्म का
प्रसिद्ध जो साधु-समाज में सदा ।

---

[1]मृदुता । [2]उत्पन्न ।

(१०४)

"चतुर्थ शोभामय सत्य अग है,
असत्यता ही शुभ-धर्म-नाशिनी,
प्रसिद्ध है पचम अग शौच जो
पवित्रता-मडित धर्म-तत्त्व है,

(१०५)

"सदा त्रस[1]-स्थावर-रूप विश्व मे
समस्त-प्राणी-गण-रक्षणार्थ जो
किया गया पालन इन्द्रियार्थ हो,
प्रसिद्ध है सयम अग धर्म का।

(१०६)

"पुन तपस्या दश-दो प्रकार की
मनुष्य-द्वारा परिपालनीय है,
पुनश्च जो त्याग प्रशस्त ख्यात है
कहा गया सो शुभ अंग धर्म का।

(१०७)

"परिग्रहो को बहु भॉति त्यागना
कहा गया धर्म-अकिंचनाख्य है,
महान जो सौख्यद साधु-सत को
तथा बनाता भय-हीन भी उन्हे ।

[1]गर्मी से डरकर सर्दी में और सर्दी से डरकर गर्मी मे भागनेवाले जीव।

(१०८)

"पुन सुनो, अंतिम अंग धर्म का,
कहा गया उत्तम ब्रह्मचर्य्य है,
गृहस्थ[1] को भोग्य स्व-नारि ही सदा,
समस्त-नारी-गण साधु त्यागता।"

(१०९)

सुना जभी भूपति ने मुनींद्र से
महान आंदोलित-चित्त हो उठे,
विचारने वे सहसा लगे, अहो!
असारता-पूर्ण समस्त विश्व है।

(११०)

असार होता यह विश्व जो न, तो
इसे न तीर्थंकर देव त्यागते,
तृषा-बुभुक्षा-रुज[2]-काम-क्रोध की
दवाग्नि प्राणी-वन को न दाहती।

(१११)

मनुष्य का जो धन—धर्म—है, उसे
स्वतंत्र हो इन्द्रिय-चौर लूटते,
अभाव में या निज भाव में इसे
अजस्र ही हैं सब भोग भोगते।

---

[1]ब्रह्मचर्य्य का अर्थ है कि गृहस्थावस्था में अपनी स्त्री के अतिरिक्त सभी स्त्रियों का त्याग तथा सन्यासावस्था में सभी स्त्रियो का त्याग। [2]रोग।

(११२)

उठे इसी भाँति विचार चित्त मे
महीप के, वे धृत-बुद्धि हो गये,
तुरन्त दीक्षा-गुरु साधु को बना
बने महात्मा जिन-धर्म-सयमी ।

(११३)

स्व-चित्त मे सत्वर सावधान हो
गुरूपदेशान्वित भूप ने तदा
समुद्र एकादश-अग[1] शास्त्र का
मुदा किया पार, कृतार्थ हो गये ।

(११४)

महीप नाना व्रत मे निमग्न हो,
शरीर को क्लेश अनेक भाँति दे,
मुनीन्द्र-द्वारा उपदिष्ट धर्म को
अनेकश वे परिपालने लगे।

(११५)

स्व-धर्म मे जो व्रत है कहे गये,
तथैव सारे तप-जाप ख्यात जो,
उन्हे सुधी सम्यक पालते हुए
रहे बिताते निज आयु सौख्य से।

---

[1]शास्त्र के ग्यारह-अग ।

(११६)

विहाय तृष्णा, वहु रौद्र ध्यान भी,
अपाय-संस्थान-विपाक आदि से
निमग्न हो सत्वर शुक्ल ध्यान में
मुनीद्र का आस्पद[1] साधु ने लिया।

(११७)

सदैव मैत्री सव जीव-लोक से,
विलीन हो दर्शन-शुद्धि मे मुदा,
विचारता षष्ठ-दशास्य[2] भावना
विनाशता विंशति-पच दोष था।

(११८)

प्रशान्त हो त्रैविध मूढ़ता[3] तजी,
विहाय सो अष्ट-मदादि सर्वथा,
शरीर से विंशति-पच मैल भी
निकाल फेंका, मन स्वच्छ हो गया।

(११९)

स-भक्ति-सवेग-विराग आदि से
विहीन, तीर्थंकर की उपाधि की
प्रसिद्ध जो है प्रथमा दशा, उसे
स-हर्ष उत्तीर्ण किया मुनीन्द्र ने।

---

[1]पद, पदवी। [2]सोलह। [3]देव मूढता लोक मूढता और गुरु मूढता।

(१२०)

स-हर्ष अष्टादश शील पालते,
अजस्र हो पंच-व्रतस्थ सात्वकी,
सु-ग्रंथ जो ज्ञापक[1] अंग पूर्व के
सदा पढाता वह शिष्य-वृन्द को।

(१२१)

समत्व, व्युत्सर्ग, त्रिकाल-वंदना—
अतिक्रम ख्यात अवश्य पाप जो,
स्तुति प्रतिख्यात छहो सुकर्म भी
निवाहता था वह साधु यत्न से।

(१२२)

अभीति देता सब जीव-लोक को,
सु-ज्ञान देता सब साधु-वृन्द को,
सदैव आध्यात्मिक-सौख्य-दान से
मुनीन्द्र सेवा करता स-हर्ष था।

(१२३)

चतुर्विधाराधन से मुनीन्द्र ने
तजा समाहार[2] व्रताधिकार से,
स्वकीय आयुष्य समाप्त जान के
चला गया नंदकुमार स्वर्ग को।

---

[1]बतानेवाला। [2]भोजन।

(१२४)

हुआ सुधी अच्यत-इन्द्र स्वर्ग मे
युवा-शरीरी अति ओज-युक्त सो
स-रत्न था वक्ष, स-वस्त्र देह थी,
स-तेज था भाल, स-कान्ति रूप था ।

(१२५)

स-रत्न उत्पाद-शिला[1] मिली उसे,
स-हर्ष बैठा जिस पै महासुधी,
चतुर्दिशा दी निज दृष्टि देव ने,
स-मोद साश्चर्य्य विलोकने लगा ।

(१२६)

विमान देखे द्युतिमान धाम थे,
स-हर्ष वृन्दारक-वृन्द भी लखे,
मुनीन्द्र साश्चर्य्य विचारने लगा —
"अहो, महा पुण्य-प्रताप धर्म का ।

(१२७)

"अहो, अहो, मै अति पुण्यवान हूं,
महान सौख्य-प्रद दिव्यभूमि है,
मनोज्ञ सेना यह सप्त भाँति की !
मनोज-सेना[2] यह कोटि भाँति की !

---

[1]जहाँ देव उत्पन्न होते हैं । [2]अप्सरा-समूह ।

(१२८)

"चतुर्दिशा मे अरुण-प्रिया शची,
असंख्य विद्याधर वर्तमान है,
सभा सुधर्मा अति ही विशाल है,
स-विश्वकर्मा सुर है विराजते।

(१२९)

"प्रतीत होते सब शुद्ध-चित्त है,
विनीत है, सुन्दर है, प्रसन्न है,
समस्त-सपत्ति-निकेत मे मुझे
बुला बिठाया किस देव-दूत ने ?"

(१३०)

मुनीन्द्र सदेहमयी प्रवृत्ति से
विचारता ही क्षण एक यों रहा,
कि देव-मन्त्री कर-बद्ध आ वहाँ
लगा बताने अति दिव्य वृत्त यों —

(१३१)

"अहो! प्रभो! सप्रति धन्य हो गये,
हुये फलीभूत प्रयत्न आपके,
स्व-जन्म पाया इस स्वर्ग मे कि जो
दिवान[1]-चूडामणि अच्युताख्य है।

---

[1]स्वर्ग।

(१३२)

"यहाँ मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त है,
अवाप्त है इन्द्रिय-सौख्य सर्वदा;
विशुद्ध है कामदुघा[1] गरीयसी
समक्ष चिन्तामणि, कल्पवृक्ष है।

(१३३)

"प्रमोद-दात्री ऋतुएं समस्त हैं,
प्रशान्ति देता शुभ काल सर्वदा,
न भेद होता दिन-रात में यहाँ,
विराजता रत्न-प्रकाश सर्वदा।

(१३४)

"न दीन, दुःखी, न अवीन, निर्गुणी,
कु-भाग्य, रोगी, जन कान्ति-हीन भी,
जिनालयों में प्रति-याम हर्ष से
प्रसन्न पूजा करते सुपर्व[2] हैं।

(१३५)

"विलोकिये, देव-विमान सर्वग,
असंख्य सामानिक देव है यहाँ,
अनन्त सेना यह आत्म-रक्षिणी,
इतस्तत: प्रस्तुत देव-पाल हैं।

---

[1]कामधेनु। [2]देवता।

(१३६)

"स-विक्रिया-ज्ञान अनेक देवियाँ
सुपर्व सारे भवदीय दास है,
समृद्धि का भोग समक्ष आपके
स्व-धर्म-कर्माश्रित स्वर्ग-सौख्य है।"

(१३७)

सुने सुरामात्य[1]-प्रदिष्ट वाक्य यो,
हुआ उन्हे ध्यान स्व-पूर्व-जन्म का,
कि नद-नामा मुनि थे, स्व-धर्म के
प्रभाव से है अब स्वर्ग-लोक मे।

(१३८)

समस्त आख्यानक जन्म-जन्म के,
स्व-जीव की उन्नति उत्तरोत्तरा,
हुई उन्हे ज्ञात, प्रसन्न हो उठे
जिनेन्द्र-धर्म-ध्वज रोम-रोम से।

(१३९)

तभी विलोकी निज दैहिकी[2] प्रभा,
समुच्च थी उन्नति तीन हाथ की,
न स्वेद था, देह मलादि-हीन थी
निमेष से रिक्त[3] प्रसन्न नेत्र थे।

---

[1]इन्द्र का मत्री। [2]देह-सवधिनी। [3]शून्य।

(१४०)

पदार्थ जो नारक-षष्ठ-भूमि के
हुये उन्हें ज्ञात स्वभावत सभी,
स-विक्रिया-ऋद्धि-प्रभाव सात्वकी
समुद्र-द्वाविंशति[1] आयु पा सके।

(१४१)

सदैव जो निःसृत ब्रह्म-रन्ध्र से
सुभोज्य पीयूष उन्हें अवाप्त था,
तथैव एकादश-मास-चारिणी
सुगंध-निःश्वास उन्हें मिली तभी।

(१४२)

निदान इच्छा यह एकदा उठी
कि प्राप्त हो केवल-ज्ञान भी उन्हें,
स-नाथ हो आर्त मनुष्य विश्व के;
अतः चले वे फिर जीव-लोक को।

[द्रुतविलंबित]

(१४३)

इस प्रकार सभी भव पूर्व के
स्मृत हुये तप के सु-प्रभाव से,
गगन मे सुर यो कहने लगे,
समय आगत जान विमोक्ष[2] का।

---

[1]बाईस सागर। [2]स्वर्ग से छुटकारा।

(१४४)

जगत मे अवतीर्ण हुए तथा
कर तपादिक से क्षय कर्म का
प्रभु बने अब केवल-ज्ञान के
उचित पात्र[1], न सशय लेश है।

[वंशस्थ]

(१४५)

सुरेन्द्र के संसद[2] मे अनेकश
सुपर्व चर्चा करने लगे तभी
हुई तपस्या परिपूर्ण लोक मे,
न आर्य्य क्यो सिद्धशिलाधिरूढ हों।

(१४६)

व्रतोपवासादिक से, तपादि से
मिला दिया पार्थिव-अश धूलि मे,
यतीन्द्र निर्धूम हिरण्यरेत[3]-से
प्रकाशते है अब जीव-लोक मे।

(१४७)

शरीर मे तप्त-सुवर्ण-कान्ति है,
पवित्र आत्मा अविमिश्र[4] ज्योति है,
त्रयोदशाब्दा उनकी तपस्विता
प्रकाशती केवल-ज्ञान-योग्यता।

---

[1]अधिकारी। [2]सभा। [3]स्वर्ण। [4]खालिस।

(१४८)

समस्त कर्म-क्षय के प्रभाव से
यतीन्द्र ससिद्धि-अवाप्ति-योग्य है,
अत उन्हें क्यो पदवी मिले न जो
पुरा त्रयोविंशति[1] देव को मिली ।

(१४९)

सुरेन्द्र-प्रस्ताव सुना रतीश ने
कहा कि "कामेश्वर नामधेय[2] में,
विना परीक्षा जिन-देव की लिये
न युक्त सिद्धासन-दान है उन्हें ।"

(१५०)

कहा सुरो ने "प्रभु कामदेव है,
महान पुष्पायुध विश्वख्यात है,
अत परीक्षा कर लें यतीन्द्र की
कदापि आपत्ति हमें न, नाथ, है ।

(१५१)

"यतीन्द्र है अस्थिक-ग्राम-कूल मे
कही वही एक विशाल चैत्य भी,
सु-कर्म से प्रेरित आज रात्रि मे
निवास लेंगे उस देव-धाम में ।

---

[1] तेईस तीर्थंकर । [2] नाम ।

(१५२)

"परीषहों को तृण-तुल्य मान के
कदापि चिंता जिसने न की, प्रभो !
सभी परीक्षा कर पार जो चुका
उसे नही है अब त्रास त्रास से।

(१५३)

"विलोकिये आप, इसी सुरौक[1] मे
सुपर्व कोई न किरीटवान, जो
धरित्रि मे दुर्भर भारवान हो
रहा नही, दु ख सहा नही तथा।"

(१५४)

चला जभी देव सुरेन्द्र-लोक से
यतीन्द्र भी अस्थिक-ग्राम मे धँसे
जहाँ खडा मंदिर एक शून्य था
महेश का, जो कि भयद[2] ख्यात था।

(१५५)

निशा-निवासार्थ निदेश आर्य्य ने
विनम्र माँगा पुर-वासि-वृन्द से,
परन्तु वे सादर बोलने लगे,—
"यहाँ न स्वामिन् ! रहना विधेय है।

---

[1] वैकुंठ। [2] भयकारी।

(१५६)

"न देव साधारण शूल-पाणि है,
थमा यहाँ सो कुशली रहा नही,
पधारते वासर में यहाँ सभी,
न रात्रि आते रुकते कदापि है।

(१५७)

"रुके यती वातुल[1] हो गये, मरे,
पुन. न लौटे, यह चैत्य है वही;
पधारिये, अन्य निवास ढूँढ़िये,
यहाँ बिताना रजनी निषिद्ध है।"

(१५८)

परन्तु बोले दृढ़-चित्त आर्य यो
"न आप चिंता कुछ भी करे, सखे!
मुझे यहाँ केवल एक रात्रि को
निवास-आज्ञा भवदीय चाहिये।

(१५९)

स्वकर्मसत्ता-वश भाड मे पडू,
बना रहेगा वह साथ-साथ ही,
अत परीक्षा-भय से विभीत हो
न वीर प्राणी तजता स्व-धर्म है।"

---

[1] पागल।

(१६०)

प्रदोष आया, सब पौर जा चुके
परन्तु ज्ञानेच्छु वने रहे वही
निशीथ मे आकर पुष्प-बाण ने
प्रगाढ ध्यानस्थ यतीन्द्र को लखा ।

(१६१)

कहा गणो से रतिनाथ ने तभी
कि शीघ्र ध्यान-च्युत आर्य्य को करे,
स-वेग भृगी-रिटि-नन्दि-तुन्दि[1] ने
प्रयत्न नाना विधि के किये सभी ।

(१६२)

उठा-उठा के पटका धरित्रि मे,
यतीन्द्र को कंदुक ही बना दिया,
परन्तु वे मीलित-नेत्र ही रहे
न ध्यान टूटा, न हिले-डुले कही ।

(१६३)

दयार्द्र हो, काम कृपालु सर्वथा
विलोक बोला, "अब छोड दो इन्हे,
यतीन्द्र है, अतिम जॉच हो चुकी,
हुये समुत्तीर्ण, न त्रास-योग्य है ।

---

[1]शकर जी के गणो के नाम ।

(१६४)

सरोज-अतर्गत मजु वारि ले
स-मत्र ज्यो ही छिड़का रतीश ने,
यतीन्द्र ने लोचन खोल के लखा
समक्ष कामेश्वर पुष्प-चाप को ।

(१६५)

ललाट मे दीप्ति प्रशसनीय थी;
मुखाब्ज में सुस्मिति, चाप पाणि में,
मनोज्ञ मौर्वी जिसमें मिलिन्द की
कटाक्ष-वाणावलि-युक्त सोहती ।

(१६६)

लसा शिरोभूषण चद्रकान्त का,
वसत-शोभा-मय अग-राग था,
विलोचनो मे विजयाभिरामता
प्रतीत थी श्याम-सरोरुहाक्ष[1] के ।

(१६७)

रतीश बोला, "अब मै प्रसन्न हूँ,
अभेद्य विश्वास हुआ मुझे कि तू
विनष्ट-कर्मास्रव सर्वथा तथा
अछेद्य सगी शुभ शुक्ल ध्यान का ।

---

[1]शकर ।

(१६८)

"अत करेगा अब तू निरूपणा
कि द्वादशागा गति गूढ ज्ञान की;
धरित्रि मे सर्व-विराग धर्म की
निदेशना[1] ही तव मुख्य कार्य्य है।

(१६९)

"चतुर्विधा सेवित सघ-शक्ति से
चतुर्दशा-देव-निकाय[2]-सेव्य है,
अवश्य ही केवल-ज्ञान-युक्त हो
मुदा करेगा भव-सिधु पार तू।

(१७०)

"त्रिलोक मे निर्मल-कीर्ति-युक्त तू
प्रचार देगा जिन-धर्म-देशना
वृथा न होगे मम वाक्य हे व्रती,
अवश्य होगा व्रत पूर्ण अन्त मे।"

(१७१)

चला गया काम समाज सग ले
परन्तु डोले न यतीन्द्र ठौर से,
वरच सिद्धासन बैठ शान्ति से
पुन हुये लीन प्रगाढ ध्यान मे।

---

[1]आज्ञा। [2]शरीर।

[द्रुतविलंबित]

(१७२)

मनुज जो दृढ निश्चयवान है,
वह नही हटता निज ध्येय से,
जिस प्रकार पतग[1] प्रदीप के
निकट ही तजता निज प्राण है।

[वंशस्थ]

(१७३)

कठोर चर्य्या उपवास आदि मे
व्यतीत यो वारह वर्ष हो गये,
पुन चले वे द्रुत वात-चक्र[2] से
सुधी घुमाते निज धर्म की धुरी।

(१७४)

हिमाद्रि-माला कर विद्ध जान्हवी
प्रवाहिता भू-तल में हुई यथा,
तथा परीक्षा-परिखा[3]-विलघिनी
यतीन्द्र-यात्रा महि-भासुरा[4] चली।

(१७५)

सहस्र-सूर्य्योदय की प्रभा भरी
ललाट मे थी उनके प्रकाशती,
विलोकते ही नर मुह्यमान की
विमोह-यामा हटती न क्यो भला ?

---

[1]कीट। [2]बगला। [3]खाँई। [4]प्रकाशित करनेवाली।

(१७६)

यतीन्द्र चपा-पुर ओर को चले
अदीर्घ स्रोती[1] पथ मे पडी उन्हे,
अनेक लघ्वी पद-दडिका[2] जहाँ
मिली हुई थी पुर के समीप ही।

(१७७)

अदूर आगे कुछ उच्च भूमि थी,
लगे हुये थे क्षुप अर्क के जहाँ
जटाल[3] शाखी अतिकाय, मध्य मे,
स्वकीय छाया करता प्रदान था।

(१७८)

प्रकीर्ण थी विस्तृत बालुका वही,
लवे जहाँ पै दिन-रात लोटते,
कभी-कभी तीतर के समूह भी
बना रहे विष्कृत[4] रेणु-पुंज थे।

(१७९)

जटाल शाखी पर पक्षि-वृन्द का
सुदूर से ही बहु-श्रव्य श्राव[5] था,
उसी फली[6] के कुछ दूर पूर्व मे
प्रसिद्ध था मदिर पूर्णभद्र का।

---

[1]नदी। [2]पगडडी। [3]बरगद। [4]बिखरे हुए। [5]शब्द। [6]वृक्ष।

(१८०)

वनी हुई आयत .वावली जहाँ,
विराम देती कर-पात्र को सदा,
यतीन्द्र भी आगत-काल-लब्धि से
गये उसी आश्रम-मध्य एकदा।

(१८१)

सुधी निराहार व्रतोपवास में
लगे विताने दिन ध्यान-मग्न हो,
व्यतीत वर्षा-ऋतु हो गयी वही
हुई पुन सर्व-दिशा सुनिर्मला।

(१८२)

यतीन्द्र ने पारण-काल जान के
प्रवेश चम्पापुर में किया तभी,
न ग्राम मे वे पहुचे सु-दूर थे
कि एक दासी पथ मे मिली उन्हे।

(१८३)

लिये हुये कोदव-भक्त[1] हस्त मे
शराव में मुद्ग[2]-तुपा रँधी हुई,
स-भक्ति आयी प्रभु के समीप सो
स्व-स्वामिनी-दंडित चदना[3] सती।

---

[1]कदन्न, कोदो का भात। [2]मूँग। [3]यह चदना-चरित्र प्राची ग्रयो मे कुछ भिन्न है कथच निरकुशा।

(१८४)

कभी रही सुन्दर राज-कन्यका
अरण्य-क्रीडा करती छली गयी,
जहाँ किसी कामुक[1] यक्ष ने उसे
कुवासनासे निज साथ ले लिया।

(१८५)

परन्तु आधे पथ मे तजा उसे
स्वकीय-पत्नी-भय-भीत जार ने
अरण्य मे पाकर एक भील ने
धनार्थ बेचा पुर मे सुभीरु[2] को।

(१८६)

सतीत्वपूर्णा वह क्रीत-सेविका
प्रविष्ट अन्त पुर मे धनाढ्य के
"बनी स-पत्नी[3] यदि सुन्दरी कही
नही कही की गृह-स्वामिनी रही।"

(१८७)

वितर्क-भीता गृह-स्वामिनी हुई,
बना दिया रूप-विरूप यो उसे
कि केश सारे मुँडवा दिये, तथा
बँधा दिया दे पद-मध्य शृंखला।

---

[1]कामी। [2]स्त्री। [3]सौत।

(१८८)

कदन्न[1] दे दे उस राज-पुत्रि को
पिशाचिनी-सी उसको वना दिया,
परन्तु सो उच्च-कुलोद्भवा सती
परीषहो को सहती चली गयी ।

(१८९)

अधौत[2]-वस्त्रा, अमिता अशसिता,
अशौच-देहा, अभगा, अमानिता
अदर्शनीया, अनलकृता, अ-भा[3],
अभागिनी थी अवला अमानुषी ।

(१९०)

परन्तु तो भी निज-मातृ-दीक्षिता,
अजस्र ही पच-नमस्क्रिया-युता,
जिनेन्द्र-पादावनता सदैव सो
निहारती थी पथ देव-देव का ।

(१९१)

प्रविष्ट चम्पापुर में हुये यती
तुरन्त फैला शुभ वृत्त ग्राम में,
कि चदना बधन-हीन हो गई
अलकृता, सुन्दरि, राजपुत्रिका ।

---

[1]बुरा अन्न । [2]बिना धुला । [3]बिना शोभा की ।

(१९२)

शराव था मृण्मय[1] हैम[2] हो गया
कदन्न पक्वान्न हुआ तुरन्त ही,
यतीन्द्र ने की उपवास-पारणा
बनी शुभा चदन-तुल्य चदना।

(१९३)

सुनी जभी अद्भुत बात, पौर आ
स-भक्ति पूजा करने लगे सभी,
निवेदना की कर-बद्ध, "धन्य हो,
प्रभो! हमे भी उपदेश-दान हो।

(१९४)

स-तर्क देखी सब ओर आर्य्य ने
प्रवृत्ति सासारिक पौर-वृन्द की,
विलोक वे मानव-चित्त-वृत्तियाँ
लगे सुनाने हित-वाक्य सर्वथा।

[द्रुतविलंबित]

(१९५)

अगद[3] जो रुज[4] के उपयुक्त हो
चतुर वैद्य वही करता सदा,
निपट ग्राम्यक,[5] सामय[6] के लिए
लशुन ही मृग-मेद[7]-समान है।

---

[1]मिट्टी का। [2]स्वर्ण का। [3]औषध। [4]रोग। [5]ग्रामीण। [6]रोगी। [7]

[वंशस्थ]

(१९६)

यतीन्द्र-संसिद्धि विलोक नेत्र से
हुये वहाँ जो समवेत[1] लोग थे,
स्वकीय गाथा कह देह-गेह की
उपाय सारे जन पूछने लगे।

(१९७)

किसान बोला, "अति ही दरिद्र हूँ
समृद्धि कैसे मुझको अवाप्त हो,"
अहीर बोला, "दश वर्ष से, प्रभो!
महान हूँ पीडित वात-रोग से।"

(१९८)

कहार बोला, "मम भ्रातृ-पुत्र को
सता रहा प्रेत अनेक वर्ष से,"
कुम्हार बोला, "प्रभु! तीन साल से
सुदीर्घ फूली पड नेत्र में गयी।"

(१९९)

चमार ने लाकर एक कूबडी
कहा "भतीजी यह आपकी, प्रभो!
हुई परित्यक्त स्वकीय स्वामि से
प्रसाद दें, कूबड ठीक हो अभी।"

---

[1] इकट्ठा।

(२००)

कुलीन कोई कर-बद्ध हो खड़ा,
कहा, "चले आप मदीय[1] गेह में,
हुई पतोहू गृह के अयोग्य है
पिशाच-बाधा जब से लगी उसे।"

(२०१)

कहा किसी ने, "जल फूँक दीजिए,"
कहा किसी ने, "मुझको विभूति[2] दो,"
यतीन्द्र बातें सुन पौर-वृन्द की
खड़े-खड़े ही हँसते रहे वहीं।

(२०२)

तुरन्त एका ललना अपुत्रिका
पड़ी पदों पै सुत याचती हुई,
विनीत बोली अपरा यतीन्द्र से
"उपाय कोई कृपया बताइए।"

(२०३)

विलोक आती अधिकाधिका, तथा
समूढ होती जनता समुत्सुका,
चले वहाँ से द्रुत त्याग ग्राम को
तुरन्त ही देव परोक्ष हो गये।

[1]मेरे। [2]राख।

[द्रुतविलंबित]

(२०४)

वन किसी सुर की प्रिय क्रोड[1] मे
विरमते शिशु की मुसकान-सी
मृदु हंसी अमिताभ[2] यतीन्द्र की
वह न भूल सकी जनता कभी।

---

[1]गोद । [2]अत्यन्त शोभावाले

सोलहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

परीषहो के विषमोपसर्ग को
प्रहारते वीर त्रयोदशाब्द यो,
रहे तपोध्यान-निमग्न, अत मे
गये जहाँ थी शुभ जृभिका पुरी ।

(२)

समीप ही उन्नत शाल-वृक्ष था,
विशाल देवालय भी विराजता,
प्रवाहिता दक्षिण-ओर, पास ही
मनोहरा थी ऋजुवालिका नदी ।

(३)

यही नदी है, जिसके समीप मे
कुमार ने जीवन प्राप्त था किया,
इसी नदी के उपकूल[1] मे कभी
हुये स्वय-दीक्षित थे वुधाग्रणी[2] ।

---

[1]तीर । [2]पंडितो मे अग्रगण्य ।

(४)

इसी नदी के उपकठ[1] मे कभी
खुला उन्हे जीवन का रहस्य था,
इसी नदी के तट मे नितान्त ही
हुआ उन्हें निश्चय काल-धर्म का।

(५)

वही नदी तुग-तरगिता बनी
प्रगाढ-आवर्तिनि सिधु-चारिणी
चलो चले, भेद लखे समीप से
जहाँ शिला है शुभ शाल के तले।

(६)

शनै शनै है भगवान आ रहे,
कठोर-चर्य्या-तप-साधना किये,
महा विजेता मद-मान-मन्यु[2] के,
निधान आदर्श व्रतोपवास के।

(७)

कषाय के सर्व-प्रकार ह्रास से
उन्हे क्षमा-आर्जव-तोष प्राप्त है,
शरीर मे आत्मिक-शक्ति-वृद्धि से
दया तथा मार्दव पूर्ण व्याप्त है।

---

[1]समीप। [2]क्रोध।

(८)

ललाट मे एक अनूप ज्योति है
प्रसन्नता आनन मे विराजती
मनोज्ञता शोभित अग-अग मे
पवित्रता है पद-पद्म चूमती ।

(९)

सभी हवाएँ जिनके प्रणाम के
लिए चली भू पर लोटती हुई,
सभी दिशाएँ जिनके शरीर को
किये समाच्छन्न प्रसन्न हो रही ।

(१०)

प्रभात मे भी कुछ आज और ही
प्रभा भरी है अति मोद-दायिनी
समीर का शीतल चित्त हो रहा
चतुर्दिशा यद्यपि ग्रीष्म-काल है ।

(११)

कुरग ऐसी भरते छलाँग है
कि सर्वथा मुक्त किरात-बाण से,
पवित्रकी[1] से विनिमुक्त सर्वश.
तड़ाग मे मीन प्रसन्न-चित्त है ।

---

[1]मछली पकडने का जाल ।

(१२)

शकुन्त[1] बैठे भय-मुक्त वृक्ष पै
कलोलते हैं, मृदु बोल बोलते।
किरी[2]-शशा-वस्त[3] समस्त भूमि में
प्रसन्न, आनंदित, मोद-युक्त हैं।

(१३)

चढे शिला पै जिस काल वे सुधी
प्रवेग झंझानिल का न था कहीं
गिरा अनायास बिना प्रहार के
सुदूर टूटा द्रुम एक ताल का।

(१४)

प्रशान्त सिद्धासन को लगा सुधी
हुये समासीन विशुद्ध भाव से,
अभीत बैठा पिक वाम अंघ्रि[4] पै
मराल भी दक्षिण जानु पै लसा।

(१५)

नदी-किनारे चरता स-हर्ष जो
समीप आया वह धेनु-वृन्द भी,
सरोज-तीरस्थ तडाग के उन्हें
विहाय वारेश विलोकने लगे।

---

[1]पक्षी। [2]सुअर। [3]भेड। [4]जंघा।

(१६)

जिनेन्द्र के उन्नत बाहु-मूल पै
गिरे तभी दो स्रग[1] अंतरिक्ष से
परन्तु वे एक तटस्थ[2] भाव से
प्रगाढ बद्धासन ही बने रहे।

(१७)

जिनेन्द्र यों तो असहाय-से लसे
निरस्त्र, निष्कचुक[3], यान-हीन ही।
परन्तु तो भी वह कर्म-शत्रु से
कराल आयोधन[4] मे समर्थ थे।

(१८)

अभेद्य सन्नाह सहस्र शील का,
निचोल भी कोटि गुणानुभाव का,
सवार सवेग-गजेन्द्र पै हुये
जिनेन्द्र थे प्रस्तुत सप्रहार[5] को।

(१९)

विशाल चारित्र्य अनीक-वप्र[6] था,
महान रत्न-त्रय के कलव[7] थे,
कराल कोदंड व्रतोपवास का
उन्हे बनाता अरि से अजेय था।

---

[1]माला। [2]उदासीन। [3]विन बख्तर। [4]युद्ध। [5]युद्ध। [6]टीला या मैदान। [7]बाण।

(२०)

अनीकिनी[1] थी वह गुप्ति आदि की,
स्वयं महा सेनप कर्म-संक्षयी,
समक्ष था कर्म अमित्र, सिद्धि का
मुहूर्त आया अभिसन्निपात[2] का ।

(२१)

दिनेश मे एक विकंप आगया,
समीर मे एक प्रकप हो गया,
तड़ाग के पंकज वेपमान[3] थे
पयस्विनी का जल कॉंपने लगा ।

(२२)

शरीर की रक्त-प्रवाहिनी शिरा
समस्त निष्मात[4] हुई तुरन्त ही
जिनेन्द्र की लोचन पुत्तली खुली,
स-वेग घूमी, फिर वन्द हो गयी ।

(२३)

अचेष्ट है ओष्ठ, अचेत है त्वचा,
अहो, अहो ! क्या यह अंत-काल है ?
पिशंग[5]-रगा वन सिंहिनी-समा
कि मृत्यु ने ली प्रभु पै उछाल है ।

---

[1]सेना । [2]आक्रमण । [3]कंपमान । [4]वजी । [5]पीली ।

(२४)

कि योग-निद्रा मधु के प्रभात-सी
अभूत भा[1]-भूषित कोष-बद्ध हो,
शनै शनै श्वास-प्रवाह ले रही
भवाब्धि के स्तभित वीचि-पुज पै ।

(२५)

विलोकते हृद्-गति के बिना जिसे
न है प्रशसा अनुराग भी कभी,
विनाश होगा उस दिव्य देह का
न यो कभी निश्चय पूर्ण रूप से ।

(२६)

कि योग-निद्रा निज सेविका, जिसे
पुकारते निश्चलताभिधान[2] से,
बिठा चुकी लोचन-कोण मे, जहाँ
अजस्र देती पहरा प्रशान्ति है ।

(२७)

न सो रहे सप्रति ज्ञात-पुत्र है,
सु-मद-विस्फूर्जित है गिरा सभी,
निमेष के अतर मे कनीनिका[3]
अदृष्ट, ज्योतिर्मय, स्थैर्य्य-हीन है ।

---

[1]शोभा । [2]नाम । [3]पुतली ।

(२८)

प्रलिप्त है अष्ट-गुणानुभाव से
जिनेन्द्र की मानस-भूमिका सभी,
कषाय-मिथ्यात्व-विहीन-चित्त वे
चढे हुये है अव श्रेणि[1] सप्तमा।

(२९)

निवृत्त कर्म-क्षय हो, तुरन्त ही
प्रवीर ले हेतिक शुक्ल-ध्यान का,
जिनेन्द्र नि श्रेयस-गेह-रोहिणी
चढे हुये है क्षपकाख्य श्रेणि पै।

(३०)

संहारते षोडश-कर्म-शत्रु वे,
प्रहारते अप्ट-कषाय-यूथ को,
विदारते है अनिवृत्ति की प्रभा[2]
चढे हुये है दशमा दशा सुधी।

(३१)

प्रवृत्त निद्रा-प्रचला-विनाश मे,
विलग्न ज्ञानावरणादि-ह्रास मे,
किये तभी पार अपार शक्ति से
जिनेन्द्र ने वारह[3] खड ध्यान के।

[1]सातवाँ गुणस्थान। [2]विस्तार। [3]वारह गुणस्थान।

(३२)

हुआ उसी काल, अहो! अनन्त में
निनाद ऐसा कि जिसे कवीन्द्र ही
निशान्त मे है सुनते कभी, यदा
समीर हो स्तभित, शान्त व्योम हो।

(३३)

सुकोमला दक्षिण-वायु-श्वास से
समीर-सगीत-समान मोहिनी
पडी सुनायी ध्वनि अतरिक्ष मे
समीप आती द्रुत ज्ञातपुत्र के।

(३४)

*कुबेर सचालित चार अश्व का
समीप ही स्यदन एक आ गया।
इतस्तत सैन्धव[1] स्वीय टाप से
अ-धूलि धूलिध्वज[2] थे बिखेरते।

(३५)

सुरेन्द्र-चापाकृति-सी प्रलबिता
सधी हुई रश्मि-विनिर्मिता कषा[3]
शताग[4]-सयोजित-बाजि-राजि[5] को
निदेश देती निज-दृष्टि-मात्र से।

---

[1]घोडा। [2]वायु। [3]कोडा। [4]रथ। [5]समूह।

*यह अश केवल कवि-कल्पना है, जैन-ग्रथो की ऐसी विचार-धारा नही है।

(३६)

सवार संगीत-तरंग पै, तथा
प्रकाश की वीचि-समूह पै चढा
अनभ्र संजान प्रशान्त वज्र-सा
समक्ष आया तव आर्यपुत्र के।

(३७)

तुरंग चारो, तनु-देह प्रात के
प्रकाश-संताडित अभ्र थे कि जो
अपूर्व-पूर्वाभिमुखी प्रसंग से
पिशंग[1]-आरक्त[2]-मयूख-पुंज हो।

(३८)

न किन्तु हेषा[3]-रव था समीर में
क्षुर-प्रहाराख भी न श्रव्य था।
तुरंग संयोजित रश्मि-रज्जु में
खडे हुये, उन्नत श्याम कर्ण थे।

(३९)

तुरन्त ही दिव्यरथी शताग से
हुआ मही पै अवतीर्ण सामने,
विनीत हो, और निवद्ध-पाणि हो
यतीन्द्र से की इस भाँति प्रार्थना —

---

[1]पीली। [2]लाल। [3]घोडे का शब्द, हिनहिनाहट।

(४०)

"अवाप्त की है वह उच्च भूमिका,
प्रभो ! मिला सो वरदान आपको,
सुदुर्लभा जो मुनि को, मुनीन्द्र को
महा-तपस्या-व्रत-योग-याग से ।

(४१)

"विहीन मिथ्या-मत से हुये, तथा
अधीन हो रंच न काम-क्रोध के,
सुदूर अंधतम मृत्यु-लोक से
प्रविष्ट होते अब हो द्यु-लोक में ।

(४२)

"अत चलो संप्रति दिव्य-लोक मे—
निसर्ग-अंत.पुर मे—जहाँ, प्रभो !
समस्त - देवासुर - मौलि - लालिता
विराजिता है वह आदि-देवता ।

(४३)

"निसर्ग के घूंघट को हटा, सखे !
विलोकिये ज्योति मुखारविन्द की;
अभौम[1] प्रेमी जिस भाँति आप है
तथैव देवी भवदीय प्रेमिका ।"

---

[1]असासारिक ।

(४४)

प्रशान्त चांचल्य-विहीन देह से
समुत्थिता तत्क्षण आत्म-ज्योति सो
महान पावित्र्य-प्रसन्नतामयी
हुई समारूढ शताग पै तभी

(४५)

मनुष्य के सुन्दर रंग-रूप मे
जिनेन्द्र-आत्मा अलकेश[1]-संग ही
हुई समासन्न, तुरन्त व्योम को
विशाल वाराट[2] उड़े विमान ले।

(४६)

विलोक चारो हय का प्रयाण यो
दिनेश के सप्त जवी[3] रुके तभी,
अशब्द-संगीत हुआ पुन., तथा
पुन॰ उड़े घोटक चित्र-पक्ष पै।

(४७)

पड़े सुपर्णा[4]-शफ[5] वेगवान हो
पुन. पुन. स्यंदन-मार्ग में जभी
समीर के संस्तर स-स्फुलिंग हो
रथानुगामी बनने लगे तभी।

---

[1]कुबेर। [2]घोड़ा। [3]घोड़े। [4]घोड़ा। [5]खुर।

(४८)

कुबेर ज्यो स्यदन हाँकते चले,
विलोकते अग्रिम पश्चिमा दिशा,
न वायु-सभूत प्रभूत भूत थे,
वरंच तारे लख व्योम मे पडे।

(४९)

महा जवी[1] घोटक स्वीय चाल की
अधीर झझानिल चाबते चले,
विलोक मानो प्रिय वस्तु सामने
चले, बढे चचल चाल अश्व वे।

(५०)

चढे चतुश्चक्र जहाँ-जहाँ, वही
बढी चतुर्धार-मयी क्षण-प्रभा,
धरित्रि के ऊपर, जा अनन्त मे
अदृश्य गत्रीक[2], अश्रव्य हो गया।

(५१)

सुदूर नीचे रथ के अनन्त से
पयोधि आदर्श[3]-समान भासता,
पडी वही पै प्रतिबिंबिता प्रभा
शताग की और शताग-मार्ग की।

---

[1]वेगवाले। [2]गाड़ी (रथ)। [3]आईना।

(५२)

सुदूर ऊंचे वह ऋक्ष-वृन्द भी
दिखा पड़े रंग-विरंग ज्योति के,
विमोचते थे वह धूमकेतु की
विभा धुरी से सब ओर व्योम में ।

(५३)

यथा-यथा स्यंदन व्योम में बढ़ा
नवग्रहों के कर कक्ष पार यों
तथा-तथा भूमि अदृष्ट हो चली
विवर्द्धिता अश्व-कृता-त्वरा हुई ।

(५४)

तथा-तथा अंशु सहस्र-भानु के
विकीर्ण प्रक्षिप्त शतांग-चक्र-से
बने सभी वे जल की फुहार से
विमुक्त पीछे जल-यान के, अहो !

(५५)

शतांग यों ही बढ़ता चला गया,
हुआ मही-गोल ख-गोल-ऋक्ष[1]-सा
प्रदीप्ति से स्यंदन के चतुर्दिशा
असंख्य तारागण वर्तमान थे ।

---

[1]आकाश के तारों के समान ।

(५६)

अगण्य नक्षत्र अनेक रूप के,
निशेश-वारेश अनेक रग के,
बँधे हुये एक अदृश्य तार मे
अपार ज्योतिर्मयता-निधान[1] थे ।

(५७)

शतांग जाता जिस ऋक्ष-कूल से
अ-तेज होता वह वार-चंद्र-सा
परन्तु ज्यो ही हटता सुदूर सो
पुनश्च होती ग्रह-तुल्य दीप्ति थी ।

(५८)

समुच्चता के अति उच्च शीर्ष पै
विमान को भी करता विमान[2] ही,
शताग ज्यो ही पहुंचा कि 'सामने
दिखा पडा मदिर आदिशक्ति का,

(५९)

कही[3] गये हो यदि आप साँझ की
पयोधि-एकान्त-तटी विलोकने,
तथा वहाँ हो ठहरे दिनान्त के
नितान्त अस्तंगत भानु[4] देखने,

---

[1]भाडार । [2]मान-हीन । [3]चार छन्दो का कुलक है। [4]किरणें ।

(६०)

अवश्य होगा भवदीय दृष्टि में
सुदृश्य आया वह हेम-जाल का,
प्रतीत होता नयनाभिराम जो
अकंप आलंबित साध्य सूर्य पै.

(६१)

मनोज्ञ अस्ताचल-मेघ-मंडली
अवश्य होगी अथिनेत्र[1] भासती
प्रदीप्त अंभोनिधि-वक्ष-वासिनी
प्रभा-प्रतिष्ठा अभिराम अभ्र[2] की।

(६२)

अवश्य ही तो भवदीय कल्पना
विलोक लेगी शुभ दृश्य सो, कि जो
दिखा पड़ा शाश्वत शक्ति-धाम के
चतुर्दिशा केवल-ज्ञान-वान को।

(६३)

न, किन्तु वैसा वह स्वर्ण-द्वीप जो
प्रकाश के मंडल में प्रदीप्त था,
तथा न वैसा वह हेम-जाल, जो
पड़ा हुआ था दिन-नाथ-भाल पै।

---

[1]नेत्र में। [2]बादल।

(६४)

कि रम्य जैसा अभिरामता-भरा
सुदृश्य था शाश्वत शक्ति-धाम का,
मनुष्य-मस्तिष्क - प्रतीत - सौम्यता
अतीत[1] होती उसके समक्ष थी।

(६५)

असख्य-नक्षत्र-प्रभा मनोरमा
प्रकाशती मदिर-पाद-पीठ पै,
रुका वही स्यंदन, तो कुबेर ने
जिनेन्द्र से की इस भाँति प्रार्थना —

(६६)

"पधारिये मदिर मे, न है मुझे
सुरेश-आज्ञा सहचार की, प्रभो!"
जिनेन्द्र होके अवतीर्ण यान से
मुदा पधारे उस दिव्यधाम मे।

(६७)

प्रविष्ट होते प्रभु ने लखा तभी
विशाल-आकाश-प्रसार एकदा,
गयी जहाँ दृष्टि उसी दिगन्त मे
असंख्य नक्षत्र विराजमान थे।

---

[1] गयी-बीती।

(६८)

समस्त तारे नियमानुकूल ही
स्वकीय-अक्षोपरि विद्यमान थे,
परन्तु ऐसी कुछ थी विभिन्नता
नृ-कल्पनातीत प्रतीत जो हुई ।

(६९)

स-मौन सगीत समस्त व्योम मे
पडा सुनायी उनको शनै शनै,
शनै शनै वे चल मेघ-भूमि[1] पै
प्रविष्ट होने उस धाम मे लगे ।

(७०)

निवेश-द्वारोपरि ऋक्ष-वृन्द जो
बँधे हुये वन्दनवार-तुल्य थे
प्रकाश-हास्यान्वित हो जिनेन्द्र का
समस्त थे स्वागत ही मना रहे ।

(७१)

प्रवृत्त नीराजन[2] मे भ-चक्र या
स्फुलिग-लीलायुत धूमकेतु थे,
कला दिखाती वहु नृत्य की मुदा
मघा[3] विशाखा कृतिका स-रोहिणी ।

---

[1]मघो से बनी हुई भूमि । [2]चिराग़-रोशनी । [3]नक्षत्रो के

(७२)

मरीचि,[1] विश्वा, रुचि, ज्वालिनी, क्षमा,
तथैव धूम्रा, तपिनी, प्रबोधिनी,
सभी कलाएँ दिवसाधिनाथ की
प्रसन्नता-संयुत भासमान थी ।

(७३)

समेत पूषा[2], धृति, तुष्टि, पुष्टि के
स-मानदा श्री, रति, अंगदा, सभी
निशेश की मंजुकला अनंत में
अनूप आमोद-प्रमोद-युक्त थी ।

(७४)

अक्षय्य निर्वाण-पद-प्रदायिनी
कि हस्त-सूत्रोचित[3]-कर्म-योजना
हुयी अछेरा[4]-कृति या कि आर्य्य की
अवर्णनीया घटना अपार्थिवा ।

(७५)

कुबेर से दो डग अग्रगामि था,
स-तर्क था और प्रबोध-युक्त था,
परन्तु तो भी अति ही अवाक हो
विलोकता ही अनिमेष में रहा ।

---

[1]सूर्य्य की कलाएँ । [2]चंद्रमा की कलाओं के नाम । [3]विवाहोचित ।
[4]भगवान का प्रथमसमवसरण जो देवताओं के साथ हुआ ।

(७६)

विलोचनो मे रसना न थी, तथा
विलोचनों से रसना विहीन थी,
वखानता तो किस भाँति मै, कहो
कि क्या हुआ, या किस भाँति से हुआ ?

(७७)

मनुष्य से भापण में मनुष्य की
सुबुद्धि होती अति तीव्र तत्परा,
परन्तु द्रष्टा कहता स्व-भक्त से
सुवाक्य एकान्त-निकेत में सदा ।

(७८)

जहाँ न पानी-पवनानलादि का
प्रवेग होता महि का न व्योम का
नितान्त एकान्त-निवास मे कही
जिनेन्द्र थे, और अनन्त शक्ति थी ।

(७९)

पवित्र एकान्त ! त्वदीय अक में,
त्वदीय छाया-मय मजु कुज में,
मुनीन्द्र, योगीन्द्र, किसे न अन में
सदैव दैवी-सहचारिणी[1] मिली ।

[1]मुक्ति स्त्री ।

(८०)

खडा रहा स्यदन एक याम यो
जिनेन्द्र लौटे संग 'दिव्य शक्ति के,
प्रकाश के अवर मे छिपे हुये
सु-व्यक्ति दोनों द्रुत एक हो गये ।

(८१)

कुबेर ने सत्वर ही जिनेन्द्र को
शताग मे सादर ज्यो बिठा लिया,
कि त्यो लगे स्यदन-चक्र घूमने
तुरग देवालय-द्वार से मुडे ।

(८२)

शताग-चक्राहत-व्योम-मार्ग मे
प्रदीप्त होने वहु भस्मनी[1] लगी
पुन पुन. वर्चिष[2] व्योम-चर्चिनी
स्फुलिग-माला बहु फेकने लगी ।

(८३)

यथा-यथा स्यदन व्योम के तले
चला महा आतुर तीव्र चाल से
तथा-तथा तारक उच्च धाम के
हुये परिक्षाम[3] प्रकाश-विन्दु-से ।

---

[1]किरणे, लपटे । [2]अग्नि । [3]दुवले ।

(८४)

तथा-तथा आगत व्योम-चक्र से
मनोज्ञ सगीत अश्रूय[1]माण हो,
विलीन होता नभ मे नितान्त ही
सुना गया था, न सुना गया तथा ।

(८५)

तथा-तथा ही नभ की गंभीरता
अनन्त थी, सो फिर सान्त हो गयी;
उसी शिला के तट यान आ रुका
जिनेन्द्र-आत्मा फिर देहिनी[2] वनी ।

(८६)

तथैव स्वर्गीय-प्रकाश-मार्ग से
चला पुन, स्यदन लुप्त हो गया ।
जिनेन्द्र ने लोचन खोल जो लखा
हुई प्रतीता ऋजुवालिका-तटी ।

(८७)

महायती के हृदयानुविम्व से,
प्रसन्नता से पृथवी प्रपूर्ण थी,
प्रसक्त था आनन मुग्ध भाव में
कि मूक प्राणी गुड खा गया कही ।

---

[1]न सुनी गयी । [2]शरीरिणी ।

(८८)

प्रवृत्ति सर्वज्ञ-विभावना-मयी
हुई अवाप्ता वह सर्व-दर्शिता,
मिला उन्हे भूत-भविष्य-काल का
त्रिलोक का सम्यक ज्ञान अत मे ।

(८९)

हुआ उन्हे यो व्यवधान[1] सूक्ष्म का—
सुविज्ञता मूर्त-अमूर्त द्रव्य की—
कि देवता-दुर्लभ ज्ञान-प्राप्ति से
हुये प्रचेता भगवान अत मे ।

(९०)

कलोलने पादप पै खगावली
लगी, वनी मोद-मयी महान ही,
रहे नदी मे पृथुलोम[2] कूदते
विलोकते ही अनिमेष हो गये ।

(९१)

सुहावना माधव-मास मंजु था
प्रसन्नता से परिपूर्ण रोदसी,
चतुर्थ था वासर-याम भी, जभी
मिला, अहो ! केवल-ज्ञान देव को ।

---

[1]ज्ञान । [2]मछली ।

(९२)

विलोक विज्ञान-निधान आर्य्य[1] को
दिनेश अन्तगत हो चला तभी,
कि सूचना था वह दे रहा, न है,
रही न आवश्यकता प्रकाश की।

(९३)

जिनेन्द्र ही एक द्वितीय सूर्य्य है
सदा-प्रकाशी, दिन मे निशीथ में,
न जीव होंगे अघ-ओघ से दुखी
न पा सकेगा सुख अधकार भी।

(९४)

विलोक सन्ध्या वह देव-धाम मे
प्रसन्न बाजे बजने लगे तभी
अनभ्र आकाश विराजमान था
चतुर्दिशा निर्मल दिग्विभाग मे।

(९५)

प्रभात-उत्फुल्ल प्रसून साँझ मे
गिरे सपर्य्या[2] रचते जिनेन्द्र की
समीर भी शीतल मद-गध ले
बहा महाब्राह्मण-पूजनार्थ था।

---

[1]श्री महावीर। [2]पूजा अर्चा।

(९६)

प्रवृत्त नक्षत्र स-हस्त उत्तरा,
शुभा घटी, उत्तम चंद्र-योग था,
अतीव सौभाग्य-प्रदा जिनेन्द्र को
मिली नवा क्षायिक-लब्धियाँ[1] जभी ।

(९७)

गिरा मही मे पट अंधकार का
समस्त भू यो तमसावृता हुई,
कि जीव आये प्रभु-वन्दनार्थ जो
न जानते वे नर थे कि देव थे ।

(९८)

उसी घड़ी शंख-निनाद हो उठा
विषाण, वंशी, ढफ, वल्लकी[2] वजे
चतुर्दिशा भक्ति-समेत प्रार्थना
दिगन्त मे यो प्रतिशब्दिता हुई —

(९९)

"समस्त-संसार-समुद्र-सेतु को,
सुरेन्द्र-संपूजित-धर्म-केतु को,
अनन्त आभा-मय वीर विक्रमी
महा महावीर ! प्रणाम आपको ।

---

[1] कर्मोंके क्षयसे प्रकट होने वाले अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि ९ भाव । [2] वीणा ।

(१००)

"सुवीर वीराग्रिम विक्रमी तुम्हीं
निपातते सतत कर्म-मल्ल हो,
परीषहो के उपसर्ग जीतते,
कृतार्थ धर्म-ध्वज ! यत्न आपके ।

(१०१)

"सदैव इन्द्रादिक पूजते जिन्हे
सराहते है मुनि-सूरि[1]-सिद्ध भी,
अनन्त भू मे जिनकी गुणावली,
विहार मे मग्न अभीत सिंह-सी ।

(१०२)

"जिन्हें मिली है वहिरंग-सपदा,
तथैव लक्ष्मी वहु अतरग की,
अनन्त आत्मीय गुणानुवृत्ति के
समूह श्री-सयुत देव-देव है ।

(१०३)

"तुम्ही विजेता प्रभु ! कर्म-शत्रु के
महान वीराग्रिम नामधेय[2] हो,
प्रसिद्ध होगे तुम वीर नाम से
प्रभो ! विजेता मद-मान-मोह के ।

---

[1]पडित । [2]नाम ।

(१०४)

"सदैव संरक्षक जीव-जन्तु के,
प्रकाश-कर्ता नव धर्म-मार्ग के,
सहाय हो केवल-ज्ञान-सग्रही,
प्रवृत्त हो विघ्न-विनाश मे सदा।

(१०५)

"निवृत्त जो मोह-मदादि-शत्रु से,
रथी अहिसा-मय श्रेष्ठ धर्म के,
परीषहाम्बोधि-तपो-तरत[1] जो
स्वधर्म-संस्थापक ख्यात विश्व मे।

(१०६)

"विनष्ट चारों गतियाँ किये हुये
त्रिलोक-लक्ष्मी करते प्रदान हो;
प्रपच सारे न सता सके तुम्हे
प्रणाम हे सत्तम! केवली, प्रभो!

(१०७)

"न लोभ के वश्य[2], न काम-क्रोध के,
न मोह के दास, न द्रोह-दंभ के,
विमोहते जो मद-मान विश्व का
नमामि ऐसे नर-नाथ! आपको।

---

[1]नौका। [2]वशीभूत।

(१०८)

"महा महावीर, नमामि आपको,
सुधीर, गभीर, नमामि आपको,
नमामि कर्म-क्षय-हेतु आपको,
सदाश्रयी, श्रीवर हे, नमामहे।

(१०९)

"महान सवेग-समेत आप है,
न मुक्ति-दारा तजती कभी तुम्हें,
विरक्त हो कामज-सौख्य-भाव से
विशिष्ट वीराग्रिम वीर विक्रमी।

(११०)

"विहीन जो सर्व परिग्रहादि से,
प्रसक्त जो पाकर मोक्ष-इन्दिरा,
सदा समारूढ महान-ज्ञान पै,
प्रणाम है, हे मुनि, वीर, आपको।

(१११)

"विनाशते केवल-ज्ञान-सूर्य्य से
तुम्ही जगद्-ध्वान्त प्रशान्त-चित्त हो,
विशेष विश्वार्थ[1]-प्रदर्शनार्थ ही
हुये समुत्पन्न जगन्निवास हो।

---

[1]ससार का लाभ।

(११२)

"नरेन्द्र हो केवल-ज्ञान-राज्य के,
महेन्द्र हो भू-अवतीर्ण[1] स्वर्ग के,
प्रचार-कर्ता नव-धर्म-तत्त्व के,
नमामि हे नाथ समस्त विश्व के।

(११३)

"प्रभो ! तुम्हीं केवल-ज्ञान-भानु हो,
अशेष-विश्वेश ! प्रणाम आप को,
तुम्हीं कृपा-सिंधु दया-निधान हो,
प्रसिद्ध त्राता जग-जीव-जन्तु के।

(११४)

"प्रणाम श्री-सागर ज्ञान-सिंधु को
प्रणाम भू-भूषण विश्व-बंधु को,
नमामि सत्यार्थ-प्रकाश-भानु को,
नमामि तत्त्वार्थ-विकास-सानु[2] को।"

[द्रुतविलंबित]

(११५)

इस प्रकार महा अनुराग से
जगत था करता जब प्रार्थना,
प्रभु अचचल-चित्त उठे, तथा
चल दिये, लखिये, किस ओर को ?

---

[1] भूमि पर आगत। [2] चोटी।

सत्रहवां सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

जिनेन्द्र की संस्तुति का पुनः पुन
हुआ प्रतिध्वान[1] समस्त लोक में,
अपूर्ण शोभी दशमी द्विजेश भी
समेत-नक्षत्र प्रपूर्ण-सा लसा।

(२)

दिगन्तव्यापी व्यनुनाद[2] व्योम मे
मुहुर्मुहु-मंथर-चार-लग्न था;
हुई प्रसन्ना ऋजु-वालिका-तटी
स-कौमुदी थी कुमुदावली-समा।

(३)

हुई प्रजा के कल-कंठ-नाद से
प्रतिध्वनि-स्तंभित रोदसी सभी,
सम-स्थली मे व्यनुनाद-वीचियां
प्रकाश-संचालित वेग मे बढ़ी।

---

[1]प्रतिशब्द। [2]शब्द।

(४)

न केवला शैल-गुफा विनिर्गता
प्रतिध्वनि स्फारित[1] व्योम में हुई,
समस्त भू के, वन के, तड़ाग के
प्रहृष्ट प्राणी बहु-भव्य-भाव थे ।

(५)

परन्तु ज्योंही वह लीन हो गयी,
नितान्त निस्तब्ध हुई वसुधरा,
न दु ख, मानो दुख की प्रतीति-सी,
अ-शब्दता मौन प्रतीत हो उठी ।

(६)

जिनेन्द्र के आनन से परन्तु थी
हुई न वाक्यामृत-धार-नि सृता,
तुरन्त प्राणी-प्रति शब्द-तुल्य वे
उठे, चले, और अदृष्ट हो गये ।

(७)

चले महाविप्र समस्त यामिनी
गये जहाँ सस्थित मध्यमा[2]-पुरी;
सु-विक्रिया-ऋद्धि-प्रभाव से, अहो !
किया कई योजन-मार्ग पार यों ।

---

[1]फैली हुई । [2]पावा (मध्यमा)

(८)

जिनेन्द्र सूर्य्योदय-काल मे धँसे
जहाँ कि पावा नगरी प्रसिद्ध थी,
मुहूर्त ऐसा मिलता न सर्वदा
पवित्र जो था, विजयाभिराम[१] था।

(९)

विलोक पावा-पुर-पौर-वृन्द ने
प्रणाम से स्वागत देव का किया,
प्रभात से ही प्रति-गेह मे चली
मनोज्ञ चर्चा प्रभु के प्रभाव की।

(१०)

जहाँ-जहाँ के पथ से चले सुधी
वहाँ-वहाँ के सब पौर धन्य थे,
—कि साधु देखे इनके न तुल्य, या
न ब्रह्मचारी इनके समान हैं।

(११)

कहा किसी ने इन-सा यती नही,
सुना किसी ने इन-सा व्रती नही,
यही समाचार समस्त ग्राम मे
तुरन्त फैला कि यतीन्द्र आ गये।

---

[१]विजय-प्राप्ति की आशा से मनोहर।

(१२)

प्रभात से ही नर-नारि-वृन्द मे
हुआ समुद्वेलित सिंधु हर्ष का,
उठी डुबोती गृह-कार्य सर्वश
अनूप-आनद-तरग चित्त में।

(१३)

मनोज्ञ ग्रामोत्तर मे प्रसिद्ध थी
जहाँ महासेन-समाख्य[१] वाटिका
वही रुके जाकर देव प्रात मे—
मिला समाचार समस्त ग्राम को।

(१४)

तुरन्त नारी-नर का समाज भी
चला कृतारण्य[२]-समीप मोद मे,
न साधु ऐसा, इस ग्राम मे कभी
यती न आया प्रभु-सा प्रसिद्ध था।

(१५)

विलोक शोभा वदनारविन्द की,
निहार आभा प्रभु-अग-अंग की,
बखानते थे सब एक-कठ हो
कि मूर्तिमाना तप-सिद्धि आ गयी।

---

[१]'महासेन' इस सुन्दर नाम की। [२]उद्यान।

(१६)

जिनेन्द्र थे यद्यपि जानते सभी
तथापि पूछा जब वृत्त ग्राम का,
पता चला सोमिल[1] विप्रराज के
यहाँ महा उत्तम याग हो रहा।

(१७)

हुये सहस्रों समवेत[2] विप्र थे,
अशेष ज्ञाता वहु वेद-शास्त्र के,
समाज ऐसा न विहार-प्रान्त मे
कदापि एकत्र हुआ, न भाव्य[3] है।

(१८)

सु-योग ऐसा प्रभु ने विचार के
कहा कि "मै ब्राह्मण-प्रीति-पात्र हूँ,
सदैव चिंता इनको स्व-धर्म की
रही, रहेगी द्विज त्याग-मूर्ति है।

(१९)

"अत. सुने ये उपदेश मामकी,
प्रचार भू मे जिन-धर्म का करे,
सदैव शिक्षा अपने चरित्र से
धरित्रि मे दे नर-नारि-वृन्द को।

---

[1]सोमिलाचार्य्य। [2]इकट्ठा। [3]होने वाला।

(२०)

"विता रहे जीवन अन्य लोग है
अजस्र आहार-विहार-मात्र मे,
परन्तु है ब्राह्मण सत्य-रूप जो
रहस्य-ज्ञाता बहु-धर्म-कर्म के।

(२१)

"जिसे न आसक्ति, जिसे न शोक ही
कदापि आगतुक[1] से चरिष्णु[2] से,
प्रमोद पाता वह धर्म-भाव में,
वही कहा ब्राह्मण विश्व में गया।

(२२)

"विशुद्ध जो अग्नि-विदग्ध हेम-सा
खरा दिखाता निकपोपलादि[3] पै,
विहीन है जो भय-राग-द्वेष से
वही कहा ब्राह्मण साधु मे गया।

(२३)

"तपोधनी, इन्द्रिय-निग्रही तथा
महाव्रती, पीडित लोक-ताप से,
जिसे मिला सगम आत्म-शान्ति का
कहा गया ब्राह्मण श्रेष्ठ है वही।

---

[1]आनेवाला। [2]जानेवाला। [3]कसौटी अथवा अन्य परीक्षा-साधन।

(२४)

"समत्व जो स्थावर-जगमादि मे
विलोकता है निज दिव्य दृष्टि से,
त्रिधा[1] अहिसा परिपालता, वही
प्रशस्य[2] है ब्राह्मण जीव-लोक मे ।

(२५)

"न स्वप्न मे भी कहता अ-सत्य है,
तथैव पूजा-रत ब्रह्म-ध्यान मे,
न लोभ-क्रोधादिक के अधीन जो
वही सुना ब्राह्मण शास्त्र मे गया ।

(२६)

"स-चित्त[3] हो, या कि अचित्त[4] वस्तु हो,
अनल्प हो, या कि अभूरि द्रव्य हो,
जिसे न हो ग्राह्य निदेश के बिना
वही सुना ब्राह्मण लोक मे गया ।

(२७)

"न चित्त से या तन से न वाक्य से
विचारता मैथुन प्राणि-मात्र मे,
सदैव संस्तुत्य सभी प्रकार से
वही सुना ब्राह्मण शास्त्र मे गया ।

---

[1]मनसा, वाचा, कर्मणा । [2]प्रशसनीय । [3]सजीव । [4]मृत ।

(२८)

"प्रलिप्त जो है न कदापि लोक मे,
सरोज के पत्र-समान नीर में,
अ-संग है जो नर काम-भोग से,
महाव्रती ब्राह्मण पूज्य है वही।

(२९)

"विरक्त है जो गृह से, गृहस्थ से,
तथा, अनासक्त[1] समस्त लोक से,
बना अनागार[2] अ-ग्रंथ[3] जो, वही
त्रिलोक मे ब्राह्मण पूजनीय है।

(३०)

"समत्व मे ही श्रमणाभिधानता,
जिसे लखाती नर ज्ञान-युक्त सो,
स्वभाव से या गुण-कर्म से सभी
मनुष्य होते अध-ऊर्ध्व वर्ण के।

(३१)

"लखा गया कर्म-प्रधान विश्व है,
सुना गया धर्म-प्रधान विप्र भी,
प्रसिद्ध है ब्राह्मण ब्रह्मचर्य्य से
तथा तपस्वी तप से सु-पूज्य है।"

---

[1]अमलग्न। [2]गृह-हीन। [3]अपरिग्रही।

(३२)

जिनेन्द्र-वार्ता सुन विप्र-मडली
हुई समाकर्षित प्रेम-भाव से
द्विजोत्तमो से अपराह्न-काल[1] मे
समस्त उद्यान प्रपूर्ण हो गया।

(३३)

चतुर्दिशा वेष्टित विप्र-वृन्द से
निविष्ट पूर्वाभिमुखी जिनेन्द्र की
हुई सुधर्मा-सम साध्य-काल मे
प्रतीत सर्वोपरि धर्म की सभा।

(३४)

किया समारभ जिनेन्द्र ने तदा
स्वकीय सभाषण धर्म से भरा,
अशेष-भाषा-अनुगामिनी गिरा
बही त्रिस्रोता[2]-सम अर्ध-मागधी।

(३५)

कही गयी बधन-मोक्ष-वस्तु क्या,
रहस्य क्या लोक-अलोक भाव का,
पदार्थ क्या आस्रव-सवरादि है,
कहे किसे जीव-अजीव-भावना।

---

[1]तीसरे पहर। [2]गगा (जिनेन्द्र द्वारा)

(३६)

कषाय-सलेखन[1] का प्रकार क्या
विनाशती है गति निर्जरा किसे,
मनुष्य को सम्यक एषणीय[2] क्या,
सभी स-व्याख्या भगवानने कहा ।

(३७)

जिनेन्द्र ने भाषित अंत मे किया
कि "दुर्लभा एक मनुष्य-योनि है,
अत. इसे ही सफला बनाइये
अवाप्त हो केवल-ज्ञान आपको ।"

(३८)

यथैव गंगा हिम-शैल-मूर्धजा
धरित्रि मे पावन-कारिणी बनी,
तथैव वाचा सरसा जिनेन्द्र की
बनी पवित्रा द्विज-वृन्द के लिए ।

(३९)

महायती के उपदेश-ज्ञान का
अगाध गाभीर्य्य विचार बुद्धि से,
तुरन्त अन्तर्दृग[3] विप्र हो गये
निहार आभा वदनारविन्द की ।

---

[1]मिटाना । [2]इच्छा करने योग्य । [3]आत्म-दर्शी ।

(४०)

समागता ब्राह्मण-मडली सभी
अशेष-ज्ञानी प्रभु के पदाब्ज में
मिलिन्द-सी आतुर लोटने लगी
मिली रजोराशि विराग-सी उसे ।

(४१)

प्रधान एकादश विप्र शीघ्र ही
जिनेन्द्र के उत्तम शिष्य हो गये,
बने स्वय-दीक्षित[1] नेमि,[2] और वे
प्रसिद्ध आरे जिन-धर्म-चक्र के ।

(४२)

अपूर्व-भूता घटना विलोक के
स-वेग साधारण पौर और भी
समस्त एकत्र हुये चकोर-से
जिनेन्द्र का आनन-चद्र देखने ।

[द्रुतविलंबित]

(४३)

लख सुधी उस पौर-समूह को,
जगत की गति पै निज ध्यान दे,
बहु दिये उपदेश, सुनो जिन्हे
विगत-छान्दस[1] ने न किये कभी ।

---

[1]जिनदीक्षायुक्त मुनि । [2]पहियेका केन्द्र । [1]गत कविगण, प्रचीन ग्रन्थ-कर्त्ता ।

(४४)

वहु शुभाशुभ मानव-वृत्तियाँ
कथित यो वहुधा उनसे हुई,
सुन जिन्हे वहु पौर-समाज नें
हृदय शुद्ध किया, गति प्राप्त की ।

[वंशस्थ]

(४५)

कलक है केवल एक पाप मे,
न पाप-द्वारा कृत दड-भोग मे,
अवश्य पाप्मा[1] वहु दोप-युक्त है,
कुकर्म-कर्मा नर दडनीय है।

(४६)

कदापि पापी न प्रमोद पा सके,
अहर्निशा दैव यही विचारता,
अनेक ऐसे अकलक कर्म है
लिखे गये जो स-कलक स्वर्ग में ।

(४७)

मनुष्य-आत्मा यदि पाप-कारिणी,
प्रशान्ति पाती न कदापि स्वर्ग मे,
वरच होती भय-भीत दड से,
अशान्त होता दिनरात चित्त है ।

---

[1]पापी ।

(४८)

पहाड चाहे गिर पाप पै पडे,
निपात हो यद्यपि सप्त व्योम का,
परन्तु तो भी छिपते न है कभी
अवश्य होते सब व्याप्त दृष्टि मे ।

(४९)

घृणामयी[1] लोचन-पुत्तली जभी
महा जुगुप्सा[2] करती, विलोकती,
पदार्थ से दूर हटी, फिरी, झुकी,
लुकी, हुई बंद, सकी न देख भी ।

(५०)

न भीति से संपति-काल रिक्त है,
विपत्ति आशा-सुख से न मुक्त है,
न व्यर्थ आलिंगन दुःख का कभी
यही सुखी जीवन-मार्ग, जानिये ।

(५१)

स्व-धर्म की गुप्त सुषुप्त भावना
विपत्ति मे जागृत हो उठे जभी,
विचूर्ण हो वंजुल[3] का प्रसून तो
सुगध ही मानव-चित्त मोहती ।

---

[1]घृणा का प्रभाव, घृणा की निंदा । [2]घृणा । [3]पुष्प-विशेष ।

(५२)

यथा उगाती निज अंक में निशा
प्रफुल्ल तारावलि व्योम-रंजिनी,
विपत्ति भी मानव की गुणावली
प्रकाशती है, करती प्रकृष्ट है।

(५३)

यथैव पाये मरु-देश में गये
सु-विक्रमी स्तुत्य क्रमेलकाश्व[1] है,
तथैव आते गुण हैं मनुष्य में
विपत्ति के काल-प्रदेश से सदा।

(५४)

विपत्ति-छाया-तरु के तले जभी
विराजता है नर मौन धार के,
तभी वहाँ आकर देव-दूत भी
प्रभूत देते वरदान विश्व के।

(५५)

कभी-कभी मूर्ख मनुष्य क्रोध में
अवश्य होता कुछ तीव्र-बुद्धि है,
परन्तु तो भी रहता विमूढ़ ही
प्रकोप में बौद्धिक लोप निष्ठ है।

---

[1] ऊँट और घोड़े।

(५६)

महा बुभुक्षा-सम क्रोध भाव है,
उसे सदा खाद्य-पदार्थ चाहिए,
मृगेन्द्र का दारण[1] ही स्वभाव है,
प्रकोप का मारण ही प्रभाव है।

(५७)

किया नही जो अधिकार क्रोध पै,
जमा उसी पै अधिकार कोप का,
लुलाय,[2] हो क्रोधित, स्वीय शृग पै
सदा उठाता वहु भार घास का

(५८)

न क्रोध हो, तो फिर पाप भी नहीं,
न कोप हो, तो अभिशाप भी नही,
न मन्यु[3] हो, तो न अमान[4] भी कही,
न रोष हो, तो न अशान्ति भी कही।

(५९)

अतीव श्रेयस्कर लोभ-त्याग है
पिता बना जो सुख-प्राप्ति-भाव का,
मनुष्य वुड्ढा वनता प्रलोभ से,
सदैव लिप्सा[5] उपजा सकी तृपा।

---

[1]नोचना। [2]भैंसा। [3]क्रोध। [4]अपमान। [5]पाने की इच्छा।

(६०)

मनुष्य जो निर्धन द्रव्य माँगता,
परन्तु लोभी सब सिद्ध चाहता,
प्रवृद्ध होता प्रति-लाभ लोभ है
यही महा अस्पृहणीय[1] विश्व मे ।

(६१)

न आपको भी रखता विसर्ज्य है,
न पाप कोई इससे अवर्ज्य है,
प्रसूति है लोभ महान द्वेष की
प्रसिद्ध क्रोधादिक का पिता यही ।

(६२)

मनुष्य लोभी धन ही विलोकता
न देखता द्रव्य विपत्ति-हेतु है,
यथैव मार्जार[2] विलोकता दही
न देखता दण्ड तना समक्ष ही ।

(६३)

भरा हुआ यद्यपि स्नेह[3]-द्रव्य से,
समृद्ध है पूर्ण-दशा[4]-विशेष से,
तथापि होता मल-युक्त[5] दीप है
विलोक लब्धोदय[6] पद्मबन्धु[7] को ।

---

[1]अनिच्छित । [2]बिलौटा । [3]तैल । [4]बत्ती । [5]काजल । [6]उदित । [7]सूर्य ।

(६४)

धरित्रि खोदी, रस-सिद्धि की, तथा
समुद्र लाँघा, गिरि पार भी किया,
सभी दुखो का सहना मनुष्य मे
महान विस्फूर्जित[1] है प्रलोभ का ।

(६५)

न वस्तु निंदा-सम शीघ्र-गामिनी,
तथैव ऐसी सरला न अन्य है,
प्रसार होता इस-सा न अन्य का,
न व्याप्ति होती पर-वस्तु की यहाँ ।

(६६)

स-गर्व निन्दा करती प्रहार तो
न पुण्यवत्ता बचती कदापि है,
न दुग्ध-सा श्वेत-चरित्र जीव भी
धरित्रि मे है अपवाद[2] से बचा ।

(६७)

निराश प्राणी अति मद-भाग्य है,
रही न, आशा जिसको धरित्रि मे,
तमिस्र से पूर्ण हताश जीव की
निशा न नक्षत्र प्रकाशती कभी ।

---

[1]स्पष्ट होना । [2]कलक ।

(६८)

जिसे न कोई सुख है, न शान्ति है,
न जीवनाशा[1] जिसमें स-कान्ति है
जिसे किया वेष्टित नित्य भ्रान्ति ने
हताश प्राणी कब दीर्घ जी सका ।

(६९)

निशीथिनी[2] जीवन-सगिनी जिसे
तथा निराशा जिसकी कु-स्वामिनी ,
उसे कहाँ सौख्य, कहाँ प्रसन्नता,
अहो ! घटी भी युग-तुल्य दीर्घ है ।

(७०)

सु-मित्र जाते कहते निराश-से,
न प्रेम-द्वारा व्रण पूर्ण हो सका,
सु-वैद्य भी यों कहते चले गये,
समा चुका है यह रोग अस्थि में ।

(७१)

चरित्र में शोभन-वस्तुएं सभी,
उदात्त-भावावलि नष्ट हो रही,
दिखा यहाँ का सब तत्त्व सद्य-सा
रहा-सहा सो सब नष्ट-भ्रष्ट है ।

---

[1]जीने की आशा । [2]रात्रि ।

(७२)

स-यत्न बोये बहु बीज लाभ के
अनिच्छिता प्रत्युत[1] हानि ही हुई,
यही निराशा अति दु ख-दायिनी,
दिनान्त आया कि विभावरी हुई।

(७३)

लखा कृतारण्य-समीप आम्र ही
विलोक आस्वादन-हेतु जो बढे,
नितान्त ही वे सब अम्ल-चुक्क[2] थे
किसे कहे विश्वसनीय विश्व मे।

(७४)

समक्ष आशा लख मूर्त थी, चले
बढे जभी यौवन के प्रवेग मे,
परन्तु छाया-सम भागती गई
न छू सके, वासर अस्त हो गया।

(७५)

लखा न सतुष्ट मनुष्य विश्व मे
गयी वुभुक्षा न, प्रकाम[3] खा चुके,
धनाढ्य-प्राणी वहुधा दरिद्र है,
गुणाढ्य को भी गुण और चाहिये।

---

[1]वल्कि। [2]खट्टे। [3]खूब।

(७६)

लखा असतोष मनुष्य-भाल पै
भरा हुआ मानस दु ख-नीर से,
विलोचनो मे उमडे पयोद थे,
अधीरता आनन मे विराजती ।

(७७)

लखी गयी दु ख-विना कराह है,
सुना गया रोदन हेतु के विना ।
न रच आवश्यकता प्रपच की
अतुष्टि ही है अनुभूत हो रही ।

(७८)

अहो, असतुष्ट-मनुष्य-चित्त में
न प्राप्ति का आदर है, न मान है,
जिसे नही इच्छित 'देव-दत्त' हो
वने न 'भिक्खूमल' कौन रोकता[1] ?

(७९)

कृतघ्न प्राणी-सम दुष्ट जीव को
धरित्रि-उत्पत्ति न दे सकी कभी,
वसुन्धरा-मध्य अनेक पाप है,
यही महा पाप, महा कु-कर्म है ।

---

[1]जो मनुष्य अपना नाम 'देवदत्त' न रखना चाहे, वह 'भिक्खूमल' ही रखले ।

(८०)

सुतीक्ष्णता मे अथवा विघात[1] मे
सुरेन्द्र का वज्र प्रसिद्ध लोक मे,
परन्तु सो भी इस-सा न तीक्ष्ण है
प्रहार मे, मारण मे कि वेध[2] मे

(८१)

सहस्र-आशीविष-दश तुच्छ है,
असख्य भी वृश्चन[3]-डंक सूक्ष्म है,
अगण्य दैवी अभिशाप व्योम से
प्रकांड वर्षा करते कृतघ्न पै।

(८२)

कृतघ्न है जो कृत को न मानता,
कृतघ्न है जो रखता रहस्य है,
कृतघ्न है जो बदला[4] न दे सके,
कृतघ्न है मानव भूल जाय जो।

[द्रुतविलंबित]

(८३)

इस प्रकार कहे कुछ दोष जो
मनुज का करते विनिपात है,
फिर लगे कहने गुण जो सदा
शुभ-समुत्थित जीवन-हेतु है।

---

[1]चोट। [2]वेधन। [3]विच्छू। [4]प्रत्युपकार।

[वंशस्थ]

(८४)

प्रशंसको को हम प्रेम-भाव से
विलोकते है, करते सु-प्रीति है
बने हमारी स्तुति के सु-पात्र जो
न सर्वदा वे नर प्रीति-पात्र है।

(८५)

सदा प्रशसा करना मनुष्य की,
कि जो महा आदरणीय व्यक्ति हो,
मनुष्य का उच्च उदार भाव है,
गुणावली के स्त्रग[1] का सुमेरु[2]-सा।

(८६)

लखा गया मार्दव ही मनुष्य के
विनाशता जीवन के कटुत्व को,
अशेष अगार, इसे प्रशैत्य दो,
जला सके चित्त न चित्तवान का।

(८७)

कभी हंसाते शिशु साधु-संत को
विलोकिये यो हंसते हुये उन्हे,
कि खीचते वस्त्र, करस्थ पात्र भी,
प्रसन्न होते करते विनोद है।

---

[1]माला। [2]प्रधान गुरिया।

(८८)

असार जाती वह प्रेम-प्रक्रिया
न आर्द्र होता यदि अन्य जीव तो,
पयोधि का नीर यथैव लौटता
पयोधि को भूमि विहाय अंत मे ।

(८९)

कहो, बचाया किसने न नाश से
कभी-कभी सूक्ष्म पदार्थ तुच्छ जो,
गिरा हुआ पुण्य, फिरी हुई शिला,
मुडी अँगूठी कि अराल बाल भी ।

(९०)

उदारता है अघ-ओघ ढाँकती,
परन्तु फैले यदि स्वीय गेह से,
सुवृक्ष-सा सिंचित देव-वृन्द से
उदार प्राणी फलवान है सदा ।

(९१)

कुलीनता, कोमलता, विनम्रता,
विशुद्धता, आत्म-पवित्रता तथा
निवास आके करते उदार म
इन्ही गुणो से जित[1] सर्व-भूमि है ।

---

[1]जीती गयी ।

(९२)

उदारता शान्ति प्रसारती जहाँ,
जहाँ पदो से करती पवित्र भू,
कुबुद्धि के वक्र स्वभाव को वही
विनाश देती ऋजुता[1] प्रभाव से ।

(९३)

उदारता है मृदु भाव चित्त का
न हस्त का और न प्राप्त द्रव्य का,
धरित्रि में वर्षण साम्य-भाव से
पयोद मे है अथवा उदार में ।

(९४)

पवित्र से भी अति ही पवित्र जो,
समुज्ज्वला मौक्तिक-ओस-बुद-सी,
वही धरा में अकलक चद्रमा
पतिव्रता-चारु-चरित्र स्तुत्य है ।

(९५)

सुभीरु पातिव्रत-वर्म्म[2]-सज्जिता,
अभीरु पातिव्रत-शस्त्र-सयुता,
अरण्य मे भी सुर-वृन्द-रक्षिता
पवित्र नारी सबला महान है ।

---

[1]सरलता । [2]तन-त्राण, कवच ।

(९६)

पवित्रता नारि-शरीर की उसे
सदा बनाती अति पूत-बुद्धि है,
मनुष्य को मंदिर-मध्य पुण्य से
अवाप्त होती ललना पतिव्रता।

(९७)

अवश्य पातिव्रत एक रत्न है,
मिला न जो पंकिल सिंधु में कभी,
खिला सका स्वर्ग्य प्रकाश गेह में,
बना सका रत्नवती वसुन्धरा।

(९८)

मनुष्य भू में उगता प्रसून-सा
समेत इच्छा हृदयस्थ गन्ध-सी,
समीप आते जब भाव भृङ्ग-से
सदा बनाते फलवान है उसे।

(९९)

पतंग भू के उडु-वृन्द चाहते,
निशीथ भी नित्य प्रभात चाहती,
मनुष्य के जीवन में विषाद[1] दो
न चाहना एक, द्वितीय चाहना।

---

[1] दुःख-चिंता।

(१००)

समर्थ होते धृतराष्ट्र जो कही
स्व-पुत्र-इच्छा-वल के निपात मे,
प्रपूर्ण होता यह देश कीर्ति से
कदापि युद्धाग्नि न दाहती इसे।

(१०१)

समर्थ होता यदि जीव यत्न मे—
धरित्रि के बन्धन के विनाश में,
न स्वर्ग था दूर किसी प्रकार भी
अवश्य होता अवतीर्ण भूमि पै।

(१०२)

मनुष्य के जीवन की सुधा तथा
सदा नवेच्छा-जननी[1] प्रसिद्ध जो
प्रसन्न आशा मन-पक्ष-चारिणी
विहारिणी सतत सर्व-लोक की।

(१०३)

मनुष्य का जागृत स्वप्न है यही
विपत्ति की औषध शुल्क[2]-हीन है
सदैव जो दुखित चित्त-भार की
प्रवाहिनी है सरिता-शिरा-समा।

---

[1]नवीन इच्छाओंको उत्पन्न करनेवाली। [2]मूल्य या फीस।

(१०४)

प्रफुल्ल आशा नव वाटिका यहाँ,
प्रसून होते जय-माल के लिए
यही लगे है फल जो कि दे सके
प्रसाद सु-स्वादु विपन्न[1] जीव को।

(१०५)

न रंच आशा, फिर भी जिया दुखी
विपत्ति मे सपति चाहता हुआ,
समुद्र मे नाविक अट्टहास ले
हँसा, मिलेगा तट तो अवश्य ही।

(१०६)

यही प्रभा जीवन-मार्ग मे सदा
प्रदीप-सी संतत कान्तिमान है,
प्रगाढ होता तम है यथा-यथा
तथा-तथा उग्र प्रकाश फैलता।

(१०७)

सदैव प्राणी रमता धरित्रि मे
जहाँ-जहाँ भी वह जा सका कभी,
वहाँ-वहाँ श्वास-समान साथ मे
अजस्र आशा बल दे सकी उसे।

---

[1] दु खी।

(१०८)

विचार के वादल श्याम-रंग के
जभी लगे नीर-विपत्ति ढाहने,
क्षण-प्रभा[1]-सी निज ज्योति दे सकी
प्रसन्न आशा मृदु अट्टहास से।

(१०९)

सदैव आशा फलती नही यहाँ,
तथापि इच्छा रहती मनुष्य की,
प्रकाशती जीवन-सगिनी यही
विपत्ति मे, सपति में समान ही।

(११०)

अवश्य होगी गत यामिनी कभी,
कभी उगेगा रवि पूर्व-शैल पै,
प्रभात-आशा-वश कज-कोष मे
प्रकाश पाता अलि[2] अंधकार मे।

(१११)

पयोद के पश्चिम[3] रश्मियाँ छिपी
प्रकाश आता जल वेधता हुआ
परेश ने ही इस कर्म-लोक में
सदैव आशा रखना सिखा दिया।

---

[1]विजली। [2]भ्रमर। [3]पीछे।

(११२)

प्रभात के कोमल दूर्ब-तन्तु मे
पुहे हुये मौक्तिक-वृन्द ओस के,
अनूप-आशा-कण है धरित्रि मे
कि जाल लूता[1] अपना बिछा रही ।

(११३)

स्वकीय गाथा कहती यही, कि जो
वृथा, असारा, पर सौख्य-दायिनी
मनुष्य हो निर्भर सो गया जभी
उसे निराशा मिल स्वप्न मे गयी ।

(११४)

सभी गुणो की जननी महा शुभा
विनम्रता ही अति पुष्ट नीव है,
समुच्च निर्माण विधेय हो जिसे
वही बने निम्न, न अन्य मार्ग है ।

(११५)

अवश्य ही उद्यत पाँव साधु का
पिपीलिका[2] को करता विचूर्ण है,
बिना बिचारे लघु जन्तु पीसना
विनम्रता का अति ही अभाव है ।

---

[1]मकडी । [2]चीटी ।

(११६)

सु-मान देना निज से समुच्च को,
असीस लेना निज से विनिम्न से,
मनुष्यता का ऋण है धरित्रि में
इसे चुकाता नर उत्तमर्ण[1] ही।

(११७)

विनम्रता ही जिस ज्ञानवान की
सुरम्य भूषा, वह वस्त्रवान है,
न एक, दो, तीन, न चार, पाँच ही,
सुवस्त्र पर्य्याप्त मनुष्य नग्न को।

(११८)

अदोष प्राणी लख प्राण दोष के
कि शुष्क होते, सहते न दृष्टि है,
स-शंक ज्यों ही अपराधिता[2] हुई
कि कंप आता उसमें अवश्य ही।

(११९)

प्रकाम-सारल्य-पवित्रता - मयी
अदोषिता दे सबको सु-योग्यता,
कि वे भगा दें कटुता, कलंक या
स-दोषिता को निज चित्त-भूमि से,

---

[1]साहूकार। [2]अपराध करने की प्रवृत्ति।

(१२०)

न भीति, शका, न अनेक दर्प ही
हिला सके चित्त अदोष जीवका,
बना रहा सो अपराध-हीन ही
बडे भले ही नर अन्य हो यहाँ ।

(१२१)

अदोष ने स्वर्ग लखा प्रसून मे
समस्त-ब्रह्माड-निविष्ट रेणु मे,
अनन्तता हस्त-गता लखा पड़ी
बसी हुई शाश्वतता मुहूर्त मे ।

(१२२)

दया नरो की परमा हितैषिणी
यही महा सत्तम शेष ज्ञान है,
अहो, दया-हीन मनुष्य विश्व मे
पवित्र-चारित्र्य-प्रभाव-शून्य है ।

(१२३)

दया दिखावे यदि अन्य जीव तो
सखे ! बढा दो तुम भी परत्र[1] को
चले इसी भाँति परंपरा तभी
सुकर्म, है सभव, स्वर्ग में मिले ।

---

[1]दूसरा ।

(१२४)

मनुष्य की भिन्न मनोनुवृत्ति को,
मनुष्य की मूर्छित प्राण-वायु को,
मिला सके मार्दव-पूर्ण भाव ही
जिला सके आर्जव-पूर्ण वाक्य ही।

(१२५)

परेश, जो सर्व-गुणानुभाव है,
महा दया-धाम क्षमावतार है,
स-धर्म-प्राणी-तन-भस्म, भी अहो!
बना दया से सरसा सका वही।

(१२६)

जहाँ-जहाँ शोभित जीव-लोक है
वहाँ स्थली जीव-दया-प्रचार की;
परन्तु प्राणी दृग-हीन ही सदा
बटोरते कंटक, रत्न त्याग के।

(१२७)

कथा दया की सुनते मनुष्य तो
तुरन्त ही हो उठते सदाश्रयी[1],
स-प्रेम साश्चर्य्य विलोकते उसे
दया लखाती जिस वन्य जीव में।

---

[1]अच्छे आश्रय वाला।

(१२८)

परेश की पूर्ण दया पयोद हो,
सदा धरित्री पर वर्षती हुई,
मनुष्य को जीवन-दान दे रही
स-प्रेम-धारा झरती निरंतरा।

(१२९)

दया, क्षमा से परिपूर्ण, पूर्णता
प्रदान भू मे करती मनुष्य को,
दया नृपो को अभिषिक्त न्याय[1] से
बना सकी ईश्वर-तुल्य विश्व मे।

(१३०)

यथैव चित्रावलि पृष्ठ-भूमि की
विचित्रता से वनती स-चित्र है,
मनुष्य की शील-पवित्रता तथा
सलज्ज जो, तो अधिका पवित्र है।

(१३१)

उगी हुई कटक के तले सहा
यथा लखाती अति ही मनोज्ञ है,
तथा कँटीले भ्रुव के तले लसी
सलज्ज की सुन्दर अक्षि[2] मोहती।

[1]अथवा, दया ने अभिषिक्त न्याय। [2]आँख।

(१३२)

विलोक के सुन्दरि की सुरूपता
मनुष्य होते अति ही विभोर हैं,
स-लज्ज नम्रा वरुणी-समाहिता
महान शोभा लखता रसज्ञ ही ।

(१३३)

प्रगाढ विश्वास, अदूष्य न्याय या
न सत्य, लज्जा-सम शसनीय है,
स्वकीय निंदा सुन जो सलज्ज हो
वही सुधी सम्यक शीलवान है ।

(१३४)

यहाँ शतो मे रणवीरता लखी,
लखी सहस्रो नर में सुविज्ञता,
गुणी लखे पूरुष लक्ष-कोटि भी,
उदार एकाधिक[1] दीखते नही।

(१३५)

'यही हमारा, वह आपका तथा
न है किसी का यह, बाँटलो इसे'—
प्रवृत्ति ऐसी नर तुच्छ की लखी,
उदार को विश्व कुटुम्ब-तुल्य है।

---

[1]एक-दो के अतिरिक्त ।

(१३६)

सुधी प्रदाता नर सेव्य है सदा,
अतीव चाहे वह तुच्छ क्यो न हो,
विहाय आये घन व्योम मे सभी
मनुष्य पीते जल कूप का, सखे !

(१३७)

परेश देखे नर से गये नही,
न देव ही भू पर दृश्यमान है,
कुबेर की भी बस एक ही कथा,
सुप्राप्त सत्पूरुष ही कभी-कभी।

(१३८)

न तोष-पीयूष-समान विश्व मे
प्रशान्ति प्राणीजन को मिली कभी
यहाँ वहाँ लुब्धक[१] के समान जो
मनुष्य भागा वह क्या कमा सका ।

(१३९)

न दुख दे मानुष अन्य जीव को
न दुष्ट के संमुख नम्र हो कभी,
न त्याग के सज्जन-मार्ग विश्व मे
कमा लिया द्रव्य अनल्प है वही[२] ।

---

[१]बहेलिया । [२]जो कुछ प्राप्त हो, वही बहुत है ।

(१४०)

वही सुखी भू पर पुण्यवान है,
वही तरा दुःख-पयोधि अंत में,
धरित्रि-सम्मोह-प्रसू[1] अजेय जो
महान आशा, उसको मिटा सके।

(१४१)

समीर खाते अहि, किन्तु हृष्ट है,
पलाश खाते गज, किन्तु पुष्ट है,
सभी इसी भाँति मनुष्य धैर्य्य से
प्रकृष्ट-तोषामृत-पान-लीन है।

(१४२)

स्व-प्राण के या धन के प्रदान से
निवाहता जो कि परोपकार है,
धरित्रि मे सो नर धन्य, अन्यथा
कभी न देता धन साथ प्राण का।

(१४३)

पयोद, वारीश, दिनेश, भेश,[2] या
अरण्य, गो, सज्जन आदि विश्व में
परोपकारार्थ रचे गये यहाँ
प्रवृत्ति अन्या इससे न श्रेष्ठ है।

---

[1]पृथ्वी पर मोह की जननी। [2]चन्द्रमा।

(१४४)

परोपकारार्थ प्रसून फूलते,
परोपकारार्थ फली[1] प्ररोहते,
परोपकारार्थ नदी-गवादि है,
परोपकारार्थ शरीर साधु का।

(१४५)

गजेन्द्र भी खा तृण दान दे रहे,
सुरेन्द्र भी धन्य परोपकार से
न पुण्य कोई पर-लाभ-सा यहाँ
परार्थ[2] तीर्थंकर भी पधारते।

[द्रुतविलंबित]

(१४६)

सकल विश्व विभाजित है द्विधा
विधि-प्रपंच भरा गुण-दोष से।
मिल सके यदि मंजु मराल तो
पय[3] लहे पय[4] त्याग करे सुधी।

[वंशस्थ]

(१४७)

प्रवृत्त संध्या उस काल हो गई
निशेश-ज्योत्स्ना-मय अंतरिक्ष था।
अशेष-नक्षत्र-प्रकाशमान हो
बना रहे थे नभ अर्क[5]-वृक्ष-सा।

---

[1]वृक्ष। [2]दूसरे के लाभ के लिये। [3]दूध। [4]जल। [5]मदार।

(१४८)

समस्त श्रोता-तति[1] तारकावली,
विशुद्ध स्वर्देव-धुनी[2]-समा गिरा,
विराजते थे द्विजराज राजते
धरित्रि मे अंबर में न भेद था।

(१४९)

जिनेन्द्र बोले वह धर्म-वाक्य जो
कि सर्व-साधारण बोध-गम्य थे;
गृहस्थ के साधु-समाज के सभी
बता चले धर्म तथैव कर्म भी।

(१५०)

असख्य प्राणी इस जीव-लोक मे
परीषहों के उपसर्ग भोगते
अघो-भयों का, दुख-ग्लानि-क्लेश का
महान मिथ्यात्व अनन्य-हेतु है।

(१५१)

अतीव अच्छा जलना हुताश मे,
तथैव हालाहल-पान श्रेष्ठ है,
परन्तु मिथ्यात्व-समेत धर्म मे
मुहूर्त जीना मरना समान है।

---

[1]मंडली, श्रेणी। [2]आकाश-गंगा।

(१५२)

सरीसृपो से मरना वरिष्ठ है
न श्रेष्ठ मिथ्यात्व-कुभाग्य भोगना,
भुजंग देता दुख एक जन्म ही,
परन्तु मिथ्यात्व अनत-काल लौ।

(१५३)

यहाँ तुला मे अघ-ओघ डालिये,
वहाँ पला मे रखिये असत्य को,
विलोकिये सर्षप[1]-से अघादि है
तथैव मिथ्यात्व सुमेरु[2]-तुल्य है।

(१५४)

निकालता जो भव से, भवाब्धि से.
तथा बनाता प्रभु तीन लोक का,
प्रभूत जो केवल-ज्ञान-युक्त है,
विशाल ऐसा जिन-धर्म विश्व मे।

(१५५)

महान दु खादि-विनाश-हेतु जो
तथा सदा कामद[3] जीव-लोक को
प्रकाम देता भव-सपदा सदा
प्रसिद्ध होगा जिन-धर्म लोक मे।

---

[1]सरसो। [2]पर्वत। [3]कामना-पूर्ति करनेवाला।

(१५६)

अ-चौर्य्य, ईर्या, मन-गुप्ति, एषणा,
तथा अहिंसादिक तेरहो कला,
प्रशसते जो मुनि वीत-राग[1] है
कहे गये वे अर[2] धर्म-चक्र के।

(१५७)

सदा धरो धर्म स्वकीय चित्त मे,
सदैव चर्चा जिन-धर्म की करो,
तजो सभी ससृति धर्म के लिये
शरण्य लो, सस्थिर हो, स्व-धर्म मे।

(१५८)

स्व-धर्म-सेवा विहिता क्षमा-युता,
क्षमा सदा क्रोध-प्रशान्ति-तत्परा,
प्रसिद्ध है मार्दव क्रोध-शत्रु ही,
यही जनो का अभिमान मारता।

(१५९)

स्व-धर्म का आर्जव एक अग है,
अकार्य्य कौटिल्य निवारता वही,
'ऋत च सत्य' जिन-धर्म-रूप है,
अलोभ-शौचादिक दिव्य भाव है।

---

[1]विरागी। [2]आरे।

(१६०)

महा—त्रस-स्थावर-रूप देह की
सदा सुरक्षा करना विधेय है
प्रसिद्ध जो द्वादश भाँति का, सखे !
वही नरो को तप-जाप ध्येय है।

(१६१)

सु-धर्म का लक्षण एक त्याग है,
सदैव आवश्यक ब्रह्मचर्य्य भी,
यही दशागा जिन-धर्म-भावना
सभी नरो से परिभावनीय[1] है।

(१६२)

हिरण्य, लक्ष्मी, बहु विश्व-सपदा,
अभीप्सिता इन्द्रिय-तृप्ति, आयु भी,
क्षण-प्रभा के समकक्ष[2] है सभी,
अत करो निश्चल सौख्य-साधना।

(१६३)

न जीव को मृत्यु परीषहादि से,
न रोग से या दुख से न ताप से,
अभीष्ट हो शाश्वत आयु-भोगना,
शरण्य है केवल एक धर्म ही।

---

[1]चिंतनीय। [2]बराबर।

(१६४)

सु-धर्म दुःखादिक-नाश के लिए
सुधी नरों से परिभावनीय है
समस्त संसार विषाद-मूल है,
प्रयत्न रत्न-त्रय-प्राप्ति का करो।

(१६५)

स्वजीव-कल्याण-विधान धर्म है,
स्व-कर्म-शुद्धचर्थ सु-धर्म ध्येय है
स्व-धर्म है केवल-ज्ञान-प्राप्ति ही;
न कर्म जीते बन ज्ञान-दग्ध है।

(१६६)

अहो, महाखेद! मनुष्य देह को
न जानते निर्मित सप्त धातु से,
शरीर का वे न ममत्व त्यागते,
अधीत-आत्मा बनते न केवली।

(१६७)

स्व-कर्म के संवर[1] से मनुष्य को
अवाप्त होती वह मोक्ष-संपदा,
अतः तपस्या अघ-हीनता-मयी
सदा दिलाती वह कर्म-निर्जरा[2]।

---

[1]निरोध। [2]समाप्ति।

(१६८)

धरित्रि को दु ख-प्रपूर्ण जान के
प्रयत्न नि श्रेयस-प्राप्ति का करो,
मनुष्य की योनि अलभ्य मान के
करो सदा सम्यक धर्म-साधना ।

(१६९)

त्रिलोक-लक्ष्मी-सुख-प्राप्ति के लिए
विषाद-निष्कासन[1] के लिए, तथा,
जिनेन्द्र-द्वारा उपदिष्ट धर्म की
यथार्थ ही ईप्सित-लाभ-साधना ।

(१७०)

सुखी जनो की सुख-प्राप्ति के लिए,
दुखी नरो के दुख के विनाश को;
जिनेन्द्र-सपादित धर्म-भावना
सुधी शिरोधारण मे प्रवृत्त हो ।

(१७१)

वही सुधी है, वह पूज्य जीव है,
वही सुखी है, गुरु है, वरिष्ट[2] है,
विहाय जो कार्य्य समस्त विश्व के
प्रवृत्त होते जिन-धर्म-मार्ग मे ।

---

[1]निकालना । [2]श्रेष्ठ ।

(१७२)

त्रिलोक को, या निज आयु को, तथा
सभी सुखों को, सब लोक-द्रव्य को,
सदैव नाशोन्मुख जान देह को
स्व-धर्म-सेवा करना यथार्थ है।

(१७३)

रथाग[1] है धर्म, यही निहार लो,
दशांग है धर्म, इसे विचार लो,
न भोग से प्रच्युत[2] अन्य वस्तु है,
न योग से उन्नत और मार्ग है।

(१७४)

परिग्रहों को सब भाँति त्यागना,
मनोवच काय-विशुद्धि साधना,
समुद्र को ग्यारह-अंग शास्त्र के
स-तर्क होके तरता मुनीश है।

(१७५)

परा - अहिंसा - मय-धर्म-साधना,
मुनीन्द्र हैं सम्यक पालते जिसे,
उन्हें मुदा द्वादश-भाँति योग से
अवाप्त होती वह तुष्टि-पुष्टि है।

---

[1]चक्र। [2]निम्न।

(१७६)

सखे! निराहार-व्रती मुनीन्द्र ही
विनाशता कर्म-गिरीन्द्र शीघ्र ही
कभी परित्याग रसादि का करे,
कभी करे कर्म-विनाश जाप से।

(१७७)

विविक्त[१]-शय्यासन हो कभी रहे,
कभी धरे कबल मजु धैर्य्य का,
प्रयुक्त हो एकरसानुवृत्ति मे
निदाघ-वर्षा-हिमकाल मे सदा।

(१७८)

अत. सुनो उत्तम धर्म-भावना,
मुनीन्द्र-द्वारा अति ही प्रशस्त जो,
सु-कर्म-लालायित, पालते जिसे
सदैव नि श्रेयस-दान-शील जो।

(१७९)

न क्रोध उत्पन्न करे कदापि जो
वही क्षमा उत्तम अंग धर्म का,
न मान को दे अभिवृद्धि स्वप्न मे
प्रशस्त सो मार्दव धर्म-शील का।

---

[१]एकान्त में सोना बैठना।

(१८०)

सदैव सारल्य-समेत सोहता
कहा गया आर्जव नाम से वही,
मनोवच-कायिक सत्य-भावना
प्रसिद्ध है उत्तम रूप से वही।

(१८१)

अ-लोभ है सत्तम, शौच श्रेष्ठ है,
न नीर में ही शुचिता अशेष है,
सदा अहिंसा-मय जैन-धर्म का
कहा गया संयम मुख्य अंग है।

[द्रुतविलंबित]

(१८२)

विपुल धर्म कहे वहु मर्म[1] भी
सुभग कर्म वता सव को दिये;
सव समाज अतन्द्र जमा रहा
सुन सुधा-मय वाक्य मुनीन्द्र के।

[वंशस्थ]

(१८३)

यथा-यथा यामिनि वर्द्धिता हुई,
तथा-तथा ही जिन-धर्म की कथा,
रहे सभी सस्थित पौर, किन्तु वे
शनैः शनैः निर्गम[2] सोचने लगे।

---

[1]धर्म का रहस्य। [2]वाहर जाना।

(१८४)

मनोज्ञ एकादश इन्दु की कला,
यथैव क्षीणा उपवास-कर्षिता,
प्रकाम फैली नभ मे विलोकती
निमेष-हीना बन आस्य[1] देव का ।

(१८५)

मनुष्य साधारण तो स-जृम्भ[2] हो
विलोकते सालस थे इतस्तत.
कि कौन जाये, पहले उठे, तथा
न जान पाये जन अन्य भी उसे ।

(१८६)

जिनेन्द्र के किन्तु स-धर्म वाक्य की
अजस्र धारा बहती अबाध थी,
विलोक मध्या निशि की पदक्रमा[3]
चले सुधी वे गति शीघ्र-चारिणी ।

(१८७)

समस्त अर्हन्त, प्रणाम आपको,
समस्त जो सिद्ध उन्हे प्रणाम है,
समस्त आचार्य्य, समस्त साधु को
तथा उपाध्याय, तुम्हे प्रणाम है ।

---

[1]मुख । [2]जम्हाई लेकर । [3]गति ।

(१८८)

समस्त लोकोत्तर सिद्ध-साधु है,
समस्त तीर्थंकर सर्व-श्रेष्ठ है,
धरित्रि मे जो वहु धर्म, वे सभी
न केवली-रूपित-धर्म-तुल्य है।

(१८९)

सदा अहिंसा रखना स्व-धर्म है
अदत्त लेना अपना न कर्म है,
मनुष्य जो उत्तम आत्म-निग्रही
उन्हे अविश्वास सदा अ-धर्म मे।

(१९०)

'न मार्ग पाथेय'[1] विना सुगम्य है,
सु-धर्म साथी पर-लोक का सदा,
न काल जाके फिरता कदापि है,
अधर्म का पादप पुष्प-हीन है।

(१९१)

सभी त्रस-स्थावर प्राणि विश्व के
अवध्य ही है न, अदडनीय है,
विभीत होते सव दड-नाम से,
कदापि प्राणी मरना न चाहते।

[1]सवल।

(१९२)

विपक्ष मे हो सम-भाव पक्ष मे,
तथा मृषा-भाषण मे न प्रीति हो,
न सत्य-सा है तप और विश्व मे
कहा गया है, ऋत ब्रह्म-रूप है।

(१९३)

मनुष्य अस्तेय[1]-विचार-युक्त जो
वही व्रती आदरणीय है सदा,
न पालता जो जन ब्रह्मचर्य्य है
उसे नही आस्पद[2] मोक्ष का मिला।

(१९४)

कदापि लाता मन मे, न दृष्टि मे
तपी स्त्रियो का मृदुहास्य, रूप भी,
विलास, लावण्य, कटाक्ष-वाण से
न विद्ध होता वह वीर धन्य है।

(१९५)

परिग्रही है वह जो पदार्थ पै,
ममत्व-मूर्छा[3] रखता सदैव है,
धरित्रि मे सग्रहणीय एक ही
सु-वस्तु है निर्मम-भाव-कल्पना।

---

[1]चोरी न करना। [2]पद। [3]मोह।

(१९६)

असत्य, हिंसा, रति-मैथुनादि से,
परिग्रहों से, निशि-भोजनादि से,
विरक्ति होती जिसको वही सुधी
अनास्रवी[1] है, वह सिद्धि-पात्र है।

(१९७)

प्रमाद, आलस्य, स्व-मान क्रोध से
तथैव कुष्ठादिक-रोग से गृही
न सत्य-शिक्षा करता अवाप्त है
तथैव होता सुविनीत भी नहीं।

(१९८)

सु-पुण्य-द्वारा नर-योनि-प्राप्त हो,
चरित्र प्राणी अपने सम्हालता,
निपात होता यदि साधु-वृत्ति से
पुनश्च पाता वह भोग-योनि ही।

(१९९)

विहंग भारंड[2] प्रमाद-हीन हो
यथा बिताता निज आयु मोद में,
तथैव सोचें नर जागरूक हो,
शरीर है निर्बल, काल निर्दयी।

---

[1]आस्रव-विहीन। [2]पक्षी-विशेष।

(२००)

न शीघ्र पाता नर आत्म-ज्ञान है,
अजस्र आवश्यक घोर साधना,
मनुष्य को संयम-मार्ग मे सदा
प्रमाद से हीन विचार चाहिये।

(२०१)

धरित्रि मे, जीवन[1] मे, समीर मे,
तथैव वैश्वानर-अतरिक्ष मे,
शरीर पाता बहु बार जीव है,
अत. प्रमादी बनना अयुक्त है।

(२०२)

यथा समुत्पन्न विहंग अंड से
विहंग से संभव अंड का हुआ
प्रसूत[2] तृष्णा इस भाँति मोह से
प्रभूत-तृष्णा-कृत मोह विश्व मे।

(२०३)

सदैव दु:ख-प्रद रागवान को
धरित्रि के इन्द्रिय-जन्य भोग है,
न वीतरागी नर को मिला कभी
कदापि आनद मनोज-भाव[3] मे।

---

[1]जल। [2]उत्पन्न। [3]रति।

(२०४)

स-मान-क्रोधादि–अनिगृहीत जो
स-लोभ-मायादि–प्रवर्द्धमान जो,
कषाय है नीर-समान सींचते,
पुनर्भवानोकह[1]-मूल सर्वदा।

(२०५)

प्रशान्ति से क्रोध विनाशनीय है,
विनम्रता से अभिमान जेय है,
अवश्य ही आर्जव मोह नाशता,
प्रलोभ को तुष्ट मनुष्य जीतता।

(२०६)

व्यतीत होती द्रुत आयु विश्व मे
न काम-भोगादिक स्थैर्य्य-युक्त है,
मनुष्य जो शून्य-विकास हेय सो,
यथा पलाशी[2] फल-हीन त्याज्य है।

(२०७)

सुखी-दुखी प्राणि-समूह सर्वदा,
स्व-कर्म का ही फल भोगते यहाँ
न छोडती मृत्यु कदापि जीव को
मृगेन्द्र जैसे मृग को न त्यागता।

---

[1]वृक्ष। [2]पेड।

(२०८)

विपत्ति मे कच्छप स्वीय अग को
सिकोड़ लेता जिस भाँति, हे सखे !
तथा सुधी भी विषयानुगामिनी
स्व-ज्ञान से इन्द्रिय-शक्ति खीचता ।

(२०९)

क्षमा तथा सयम मे प्रसक्त[1] जो
तपस्विता-आर्जव-युक्त जो सुधी
परीषहो का क्रम ही विनाशता,
मुमुक्षु सो सद्-गति-प्राप्ति-योग्य है ।

[द्रुतविलंबित]

(२१०)

प्रभु-कृता जिन-धर्म-विवेचना
समिति मे प्रसरी इस भाँति से,
जिस प्रकार सुगन्ध सरोज की
जल-तलोपरि छा रहती मुदा ।

[वंशस्थ]

(२११)

शनै शनै पौर उठे चले गये,
विसर्जिता धर्म-सभा हुई सभी,
विहाय * एकादश-विप्र-मंडली
समीप कोई न रहा जिनेन्द्र के ।

[1]सलग्न ।

(२१२)

शनै शनै यामिनि भीगने लगी
प्रलविता ऐंदव[1]रश्मियाँ हुईं,
विहाय योगी-जन, और पौर या
न चौर भी है उस काल जागते।

(२१३)

स्व-धर्म-संवोधित विप्र-मडली
समीप वैठी प्रभु ज्ञात-पुत्र के
समाकुलेच्छा[2] उसमें अतीव थी
अवश्य ही धर्म-रहस्य-ज्ञान की।

(२१४)

जिनेन्द्र वोले, "द्विज आज से तुम्ही
प्रसिद्ध नेता मम धर्म के वनें,
हुये तुम्ही दीक्षित सत्य-मार्ग में
अत. करो साधु-समाज-कल्पना।

(२१५)

"प्रचार ऐसा कर दो स्व-धर्म का
रहे न हिंसा-मद-मान विश्व में,
अवश्य ही जीवन मे तुम्हें, सखे!
महान नि श्रेयस-सिद्धि प्राप्त हो।

---

[1]चद्रमा की। [2]उत्कट अभिलापा।

(२१६)

"अहर्निशा सप्रति तीस वर्ष का
मदीय नेतृत्व अवाप्त है तुम्हे,
अत करो धर्म-प्रचार नित्यश
सु-कर्म-कल्याण मिले, सुखी रहो।

(२१७)

"प्रसिद्ध एकादश-सघ-राज[1] हो
सुपात्र हो केवल-ज्ञान-प्राप्ति के,
सभी करोगे जिन-धर्म-वृद्धि ही
समाप्त होगे गुण-शील' चैत्य मे।"

(२१८)

तपी व्रती पडित वेद-शास्त्र के,
सभी गुणी ब्राह्मण थे यथार्थ ही,
किसी-किसी ही श्रुति[2]-मत्र मे उन्हे
निगूढ शका कुछ थी अवश्य ही।

(२१९)

जिनेन्द्र ने वेद-प्रसिद्ध मत्र से
मिटा दिया सशय विप्र-वृन्द का
अत हुआ भान उन्हे यथार्थत.
कि ज्ञान से नि सृत जैन-धर्म है।

---

[1]'गणराज'। [2]वेद। इन ग्यारह ब्राह्मणो को वेदार्थ में कुछ ऐसी शकाएँ थीं जिनको भगवान ने वेद-मन्त्रो के अर्थ द्वारा समझाकर समाधान कर दिया था।

(२२०)

हुआ सभी ब्राह्मण-वृन्द को तदा
प्रगाढ विश्वास जिनेन्द्र-वाक्य मे,
हुये सभी धर्म-प्रचार-निश्चयी
नवीन आदर्श समक्ष आ गया।

(२२१)

शनै शनै वीत चली विभावरी
शनै शनै. ब्रह्म-मुहूर्त आ गया,
उठे सभी विप्र, परन्तु आर्य्य ने
विठा किया गौतम[1] इन्द्रभूति को

(२२२)

कहा, "अहो! भव्य सु-वश हो तुम्ही
वने हमारे जिन-धर्म-केतु के,
जहाँ-जहाँ हो मम कीर्ति-कल्पना
सखे! तुम्हारा यश हो वहाँ-वहाँ।

(२२३)

"सुविप्र! आये तुम जीतने मुझे,
अवश्य जीता मुझको स्व-भक्ति से,
रहा न सदेह तुम्हे स्व-धर्म मे
रही न शका मुझको स्व-कर्म में।

---

[1]इन्द्रभूति गौतम भगवान के प्रधान शिष्य हुये। इन्होने ही जैन-धर्म का सागोपांग निरूपण किया। भगवान के मौखिक भाषणो को लिपि-बद्ध करके यह प्रथम प्रचारक हुये।

(२२४)

"अवश्य ही मैं अब आपकी, सखे !
सहायता से जिन-धर्म-चक्र को,
घुमा-घुमा के बहु देश-काल में
सु-पात्र हूँगा सफला सुकीर्ति का ।"

(२२५)

परन्तु यों गौतम ने कहा, "प्रभो !
सुयोग्यता का मुझ मे न लेश है,
महामहत्ता है यह आपकी कि जो
मुझे बनाते इतना महान है ।

(२२६)

"प्रभो ! यथा पारस-संग लौह से
सुवर्ण होता अति मूल्यवान है,
तथैव है संभव, आज मैं बनूँ
स-नाथ हे नाथ त्वदीय साथ में ।

(२२७)

"सुबुद्धि,[1] सत्कीर्ति, विभूति, भावना
मिली कभी जो जिस भाँति से जिसे,
प्रभाव सत्संगति का अवश्य सो,
न सिद्धि पाते जन अन्य यत्न से ।

---

[1] मति कीरति गति भूति भलाई इत्यादि । तुलसी ।

(२२८)

"प्रभो ! मुझे निश्चय सत्य-भाव से
विवेक सत्सगति के विना नही,
सुप्राप्त सो भी न, विहाय[1] आपकी
महान दुष्प्राप्य अहेतुकी[2] कृपा ।

(२२९)

"पवित्र ससर्ग महानुभाव का
किसे न देता पद मूल्यवान है,
यथैव गगा-गत नीर पूत है,
सरोज-पत्र-स्थित बुन्द रत्न-सा ।

(२३०)

"प्रभो ! कहा शीतल चद्रमा गया,
तथैव है चंदन शैत्य-युक्त ही,
परन्तु, ससर्ग त्वदीय तो मुझे
स-शैत्य है चदन-चद्र से कही ।

(२३१)

"त्वदीय ससर्ग मदीय वुद्धि का
प्रभो ! हरे जाड्य[3], भरे सुविज्ञता,
तथैव आत्मोन्नति, पाप-हीनता,
प्रदान सत्कीर्ति करे अजस्र ही ।

---

[1]छोडकर, अतिरिक्त । [2]निष्कारण । [3]जडता, मूर्खता ।

(२३२)

"प्रभो ! तुम्हारी कल कीर्ति विश्व मे
कृशाश्वनी[1] के सम नाचती रहे,
त्रिलोक के प्रागण-मध्य साधुता
निशेश-जोत्स्ना-सम रॉंचती रहे।

(२३३)

"प्रभो ! तुम्हारी प्रतिभा-पवित्रता
बहे सभा मे सुर-सिधुगा[2] समा,
प्रियव्रता-सी तव मोक्ष-अगना
अजस्र ही सन्निकटस्थिता रहे।

(२३४)

"प्रकाशती है तव बुद्धि सर्वश,
वितान को तान रही सु-कीर्ति के;
तथैव वैदग्ध्य[3] बढा रही सदा,
चढा रही श्वेत समुच्च व्योम मे।

(२३५)

"विनाशती है अघ-ओघ, हे प्रभो !
प्रकाशती उन्नति है चरित्र मे;
पता नही है यह आपकी कथा
कि उच्च-संसर्ग-प्रभाव-शालिमा।"

---

[1]पतले शरीर की घोडी। [2]गगा नदी। [3]पाडित्य।

(२३६)

जिनेन्द्र की गौतम की महाशुभा
निगूढ वार्ता कुछ देर यो हुई
पुनश्च दोनो चुप हो गये, रुके
प्रभात-सस्तभित-गाग - धार - से ।

(२३७)

दिनेश-आरुण्य दिगंत मे लसा
विलोक मिथ्या-मत ऋक्ष से छिपे
उषा न आयी नभ में, धरित्रि में
प्रभाव छाया जिन-धर्म-चक्र का ।

(२३८)

कुशेशयो[१]-से, युग चक्रवाक-से,
शिलीमुखो[२]-से, नभ-संगमादि-से,
स-साधु साध्वी-जनमोद-युक्त थे,
प्रहृष्ट थे श्रावक-श्राविका सभी ।

(२३९)

मुहूर्त मे धर्म-प्रभात हो गया,
मिटी कि हिंसा-घनघोर-यामिनी,
उलूक-से पाप, जतूक[३]-से हुये
समस्त अस्तगत अतरिक्ष में ।

---

[१]कमल । [२]भ्रमर । [३]चमगादड ।

(२४०)

विवोधिता जीवन-सुप्रभात मे
जगी विहंगावलि-सी सभी प्रजा,
चतुर्दिशा चारु निनाद यो उठा,
"जिनेन्द्र की जै, जय जैन-धर्म की ।"

[शार्दूल विक्रीडित]

(२४१)

आया शाश्वत वार जो प्रथित[1] है हिंसा-निशा नाश में,
सो वारेश उगा कि जो न अघ का है लेश भी छोडता,
प्राणी ससृति के समुत्थित चले, जो धर्म-पाथेय ले,
यात्रा जीवन की सभी कर रहे आ-बाल-वृद्धावला[2] ।

(२४२)

ऐसा मार्ग प्रशस्त है, न जिसमे है भ्रान्ति-शका कही,
छायी अबर-मध्य जैन-मत की आनन्द-कादम्बिनी[3] ।
देती सौख्य वसन्त के पवन-सी सामायिकी-साधना,
काम-क्रोध-मदादि-कटक बिना सन्मार्ग है धर्म का ।

(२४३)

भव्यो ! है यह मेदिनी शिविर-सी जाना पड़ेगा कभी,
आगे का पथ ज्ञात है न, इससे सद्‌बुद्धि आये न क्यो ?
ले लो साधन धर्म के, न तुमको व्यापे व्यथा अन्यथा,
है जैनेन्द्र-पदारविन्द-तरणी संसार-पायोधि की ।

—समाप्त—

---

[1]प्रसिद्ध । [2]स्त्री । [3]मेघ-माला ।

[सन् १९५१ में हमारे नये प्रकाशन]

१. मेरे बापू

श्री हुकुमचन्द्र 'बुखारिया'

डॉ० रामकुमार वर्मा—

'मेरे बापू' में युगपुरुषको कविकी श्रद्धाञ्जलि समर्पित हुई है। इस श्रद्धाञ्जलिमें कविकी अनुभूति और कल्पनाके ऐसे प्रसून हैं जिनकी सुगन्धि निरन्तर पूजाकी पवित्रता लिए रहेगी। बापूका व्यक्तित्व ही काव्यका सहज विषय है। कवित्वके इस जागरणमें कविकी लेखनी संदेश-वाहिका बन गई है। ये संदेश शताब्दियों तक गूंजते रहेंगे। मैं कविके कंठमें अपना स्वर मिलाकर कह सकता हूं —

'एक बार धरती गूंजेगी ही फिर उसके अमर श्वास से'

मूल्य ढाई रुपए

२. पंच-प्रदीप

श्री शान्ति एम० ए०

आमुख लेखक, सुमित्रानन्दन पन्त लिखते हैं :—शांतिजीका कवि-हृदय, संस्कारत एक स्वच्छ सुथरे कक्षके भीतर प्रतिष्ठित है, जहांसे उनका सहज बोध भावनाके उत्थान-पतनों, सुख-दुःखके मधुर-तिक्त संवेदनों तथा बाह्य जगत्के आघातों और विक्षोभोंको एक स्वस्थ संयमन तथा आगे बढनेकी प्रेरणा प्रदान करता रहता है। कहीं भी कवयित्रीकी समर्थ भावना ऊबड़-खाबड़ धरतीकी ठोकर खाकर परास्त होती नहीं प्रतीत होती, और न वह भावोच्छ्वास मात्र बनकर वाष्पकी तरह हवामें उड़ती दिखाई देती है।

कवयित्रीकी भाषामें स्वाभाविकता, सजीवता, मधुर प्रवाह तथा शक्तिका सन्तुलित सौष्ठव है। वह अपने काव्य-निर्माणमें बच्चन तथा महादेवी जीकी झंकारोंको आत्मसात् कर उन्हें नवीन रूप प्रदान कर देती है।

मुझे विश्वास है 'पंच-प्रदीप' की शिखा भी उत्तरोत्तर उन्नत होकर उस गौरवको वहन करनेमें समर्थ होगी।"

मूल्य दो रु०

३. वर्द्धमान

[महाकाव्य]

जनताकी सदियोसे उत्कट अभिलाषा थी कि भगवान् महावीरके जीवनचरित्रकी ऐसी मर्मस्पर्शी कविताएँ हो जिन्हें पढकर लोग आत्म-विभोर हो उठे। उसी वर्षोंकी साधको सिद्धार्थके यशस्वी ख्याति प्राप्त कवि श्री अनूपशर्माने यह महाकाव्य लिखकर अभिनन्दनीय कार्य किया है।

मूल्य छः रु०

४. गहरे पानी पैठ

[सूक्तिरूपमें मर्मस्पर्शी ११२ कहानियाँ]

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

गुरुजनोके चरणोमें बैठकर जो सुना.
इतिहास और धर्मग्रन्थोमे जो पढा
और हियेकी आँखोसे जो देखा

मूल्य ढाई रुपए

५. ज्ञानगंगा

[ससारके महान साधकोकी सूक्तियोंका अक्षय भण्डार]

श्री नारायणप्रसाद जैन

इन सूक्तियोको पढकर पता चलता है कि मनुष्यके जागरित मनमे पृथ्वीके विभिन्न खण्डोमे रहकर अनन्त युगोतक जीवनसे जूझकर और जीवनको अपनाकर अपने अनुभव द्वारा सत्यको किस प्रकार प्राप्त किया है और उसे किस अमर वाणीमे व्यक्त किया है। ज्ञानकी यह कितनी बडी करामात है कि वह मानव-मात्रमें भेद ही उत्पन्न नही करता, जीवनकी मौलिक एकताका आधार साक्षर-वाणीमे व्यक्त करता है और इतिहासके पृष्ठोपर अमरत्वकी छाप लगा देता है।

मूल्य छः रु०

६. भारतीय विचारधारा

श्री मधुकर

प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकने भारतीय दर्शनको ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोणसे उपस्थित करके सर्वसाधारणके लिए सुलभ बना सकनेका सराहनीय कार्य किया है। वेद, उपनिषद्, चार्वाक्, गीता, जैन और बौद्ध विचारधाराएँ, न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्व मीमांसा और वेदान्त के सभी दार्शनिक मार्गोंकी सांगोपांग वैज्ञानिक विवेचना की गई है।

पादटिप्पणीमें दिये गये मूल संस्कृत उद्धरणोंसे पुस्तककी उपादेयता और बढ़ गई है। भारतीय संस्कृतिको स्वस्थ दृष्टिकोणसे समझनेके लिए यह पुस्तक बहुत आवश्यक है।

मूल्य दो रु०

७. महापुराण [आदिपुराण]

[भाग १]

भगवज्जिनसेनाचार्यकृत युगादि पुरुष भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र।

इस पुराणमें न केवल चरित्र ही है किन्तु जैनाचार, जैनसंस्कार आदिका साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवेचन है। अनेक ताडपत्रीय प्रतियोंके आधारसे इसका संशोधन और सम्पादन साहित्याचार्य पन्नालालजीने किया है।

पृष्ठ संख्या ७१२ बड़ा साइज

मूल्य दस रु०

८. समयसार [अंग्रेजी]

भगवान् कुन्दकुन्दके सुप्रसिद्ध अध्यात्म ग्रंथ समयसारका अंग्रेजी भाषामें प्रामाणिक अनुवाद। विस्तृत व्याख्या महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना सं०—रावबहादुर ए० चक्रवर्ती, मद्रास।

मूल्य आठ रु०

१९५० के हमारे प्रकाशन

९. मिलनयामिनी

[श्री बच्चनजी की नवीनतम कृति]

आल इण्डिया रेडियो—

"मिलनयामिनी" रस रागिनी है। यह हमारे मनके तारोको मायाकी उगलियोसे वजाती है और जीवनके एकान्त क्षणोकी उदासी दूर कर जाती है।

मूल्य चार रु०

१०. वैदिक साहित्य

आमुख लेखक

माननीय सम्पूर्णानन्दजी, शिक्षामत्री उत्तर प्रदेशराज्य

इसके लेखक वैदिक साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् और परम्परागत धर्मशास्त्र, पुराण और भारतीय दर्शनोके प्रसिद्ध अध्येता श्री पण्डित रामगोविंद त्रिवेदी वेदान्त शास्त्री है।

वैदिक साहित्यका इतना सरल सागोपाग परिचय हिन्दी तो क्या सम्भवत भारतकी अन्य भाषाओमे भी उपलब्ध नही है। पुस्तकके लगभग ५०० पृष्ठोमें अवतक प्राप्त ११ सहिताओ, १८ ब्राह्मण ग्रथो, ९ आख्यायिको और २२० उपनिषदोकी मूल ज्ञानराशि और उनके सम्बन्धमे अन्य ज्ञातव्य वातोको भी त्रिवेदीजीने सार रूपमें रख दिया है।

मूल्य छः रु०

११. जैन शासन [द्वितीय संस्करण]

पं० सुमेरुचन्दजी दिवाकर, न्यायतीर्थ

आचार्य विनोवा भावे—

"किताव बहुत मेहनतसे लिखी है। जैनधर्मके बारेमें काफी जानकारी उसमेंसे मिल जाती है। जैन विचार नि सशय प्राचीन कालसे है क्योकि "अर्हन् इद दयसे विश्वमवम्" इत्यादि वेदवचनोमे वह पाया जाता है।"

मैथिलीशरण गुप्त—

"जैन शासन" लिखकर आपने अपने धर्म और साहित्यकी अच्छी सेवा की है।

मूल्य तीन रु०

संशोधित और परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण अक्तूबर '५०में प्रकाशित

१२. शेर-ओ-शायरी

[उर्दूके सर्वोत्तम अशआर और नज़्में]

लेखक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

प्रस्तावना लेखक महापण्डित राहुलजी लिखते हैं—

"शेरोशायरी" के छ सौ पृष्ठोमें गोयलीयजीने उर्दू-कविताके विकास और उसके चोटीके कवियोका काव्य-परिचय दिया है। यह एक कविहृदय साहित्य-पारखीके आधे जीवनके परिश्रम और साधनाका फल है। हिन्दीको ऐसे ग्रन्थोकी कितनी आवश्यकता है, इसे कहनेकी आवश्यकता नही।

उर्दू-कवितासे प्रथम परिचय प्राप्त करनेवालोके लिए इन बातोका जानना अत्यावश्यक है। गोयलीयजी जैसे उर्दू-कविताके मर्मज्ञका ही यह काम था, जो कि इतने सक्षेपमें उन्होने उर्दू "छन्द और कविताका" चतुर्मुखीन परिचय कराया।

गोयलीयजीके सग्रहकी पक्ति-पक्तिमे उनकी अन्तर्दृष्टि और गम्भीर अध्ययनका परिचय मिलता है। मै तो समझता हूँ, इस विषयपर ऐसा ग्रन्थ वही लिख सकते थे।

मूल्य आठ रु०

१३. मुक्तिदूत [द्वितीय संस्करण]

श्री वीरेन्द्रकुमार एम० ए०

"कथा अत्यन्त करुण है। लिखा भी उसे इतनी ही आस्था और आर्द्रतासे गया है। इसकी भाषा और वर्णनका वैभव मुग्ध कर देता है। इतना सचित्र और मनोरम वर्णन हिन्दीमें मैने अन्यत्र देखा है, ऐसा याद नहीं पडता। मोतियोकी लडीसे वाक्य जहाँ-तहाँ मिलते है। मन उनकी मोहकता और कोमलतापर गल-सा आता है। प्रसादजीके बाद यह शोभा और श्री, गद्यमें मैने वीरेन्द्रमें ही पाई। मृदुता और ऋजुता बल्कि चाहे कुछ विशेष ही हो।"

—जैनेन्द्रकुमार

मूल्य पाँच रु०

१४. केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि

सम्पादक—नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषाचार्य

प्रश्नशास्त्रका अद्‌भुत् ग्रन्थ, हिन्दी विवेचन, मुहूर्त, कुण्डली, शकुन आदिके हिन्दी परिशिष्टोसे विभूषित।

प्रस्तुत ग्रन्थमे भारतके सभी चन्द्रोन्मीलन, केरल, प्रश्नकुतूहल आदि प्रश्नशास्त्रोके तुलनात्मक विवेचनके साथ ही साथ ४० पृष्ठोकी भूमिकामें जैन ज्योतिषकी विशेषता समझाई गई है। सामान्य पाठक भी इसके द्वारा अपने भावी इष्टानिष्टका परिज्ञान कर सकता है।

मूल्य चार रुपए

१५. नाममाला [संस्कृत]

सम्पादक—प० शम्भुनाथ त्रिपाठी, सप्ततीर्थ

महाकवि धनञ्जय कृत नाममाला और अनेकार्थनाममालाका अमरकीर्तिकृत भाष्यसहित सुन्दर सस्करण। साथमें अनेकार्थनिघण्टु तथा एकाक्षरी कोश भी सम्मिलित है।

प्रत्येक शब्दकी सप्रमाण व्युत्पत्ति देखिए।

मूल्य साढ़े तीन रुपए

5189

१६. सभाष्यरत्नमञ्जूषा [संस्कृत]

सूत्रशैलीमें लिखा गया एकमात्र जैन छन्दशास्त्रका ग्रंथ।

सम्पादक—छन्दशास्त्रके मर्मज्ञ, प्रो० एच०डी० वेलणकर, मुम्बई।

मूल्य दो रुपए